ज्योति पुंज

[illegible]

लेखन:—

सुनीता अग्रवाल

प्रकाशन:—

रामप्रसाद एंड संस,

अस्पताल रोड, आगरा।

प्रकाशक—
रामप्रसाद एंड संस
अस्पताल रोड, आगरा।

मुद्रक—
कल्याण प्रिन्टिंग प्रेस
राजा मंडी, आगरा।

आलेख

जीवन-चरित्रों की आवश्यकता बताने की आवश्यकता सम्भवतः नहीं होनी चाहिए। आज का बालक कल युवक होगा, और परसों प्रौढ़ हो, परिपक्व हो, राष्ट्र, विश्व और मानवता का सदस्य होगा, अतः मानवता की सेवा में किस प्रकार की कठिनाइयाँ, किस प्रकार के पतन और उत्कर्ष आया करते हैं यह उन्हें जानना ही चाहिए। पिछलों के अनुभव से ही आगे बढ़ा जा सकता है। आज वायुयान की यह उत्कृष्ट अवस्था नहीं हो पाती, यदि राइट ब्रदर्स का वायुयान हम भुला देते; रेलें हमारी इतनी सहायता नहीं करती होतीं, यदि हम स्टीफेन्सन के इंजिन को भुला बैठते; वही मारकाट और प्रलयंकारी दावा आज भी जल रही होती, यदि हम हिटलर का पतन नहीं देखते। भगवान की कृपा है कि आज मानव शान्ति के प्रयत्न कर रहा है। यह तो ठीक है कि परिवर्तनप्रकृति का नियम है, पर क्या परिवर्तन केवल युद्ध से ही सम्भव है? इस परिवर्तन की बाढ़ को किसी और प्रकार नहीं लाया जा सकता? यह भी तो एक परिवर्तन ही है, जो आज हूण, मंगोल आदि की बर्बरता से हम शान्ति की ओर कदम बढ़ाए जा रहे हैं। तो भी क्या युद्ध होगा ही? यह प्रश्न आज भी सामने है, और मनुष्य को इसे हल करना है।

भारत हमारा राष्ट्र, शान्ति के इस प्रचलन में अग्रणी है। हम शान्ति की ओर बढ़ते जा रहे हैं। क्यों? क्योंकि हममें सहनशीलता है, ठंडे दिमाग से सोचने की क्षमता है। यही क्षमता जिस दिन सभी में हो जाएगी, दूसरे राष्ट्र पर कोई ईर्ष्या-दृष्टि नहीं डालेगा, अपने आप में ही सन्तोष कर अपनी बढ़ी [illegible] करेगा, जिससे दूसरे की हानि नहीं हो, तो यह दावे से कहा जा सकता [illegible] कि फिर युद्ध नहीं होगा, मानव चैन से रह सकेगा।

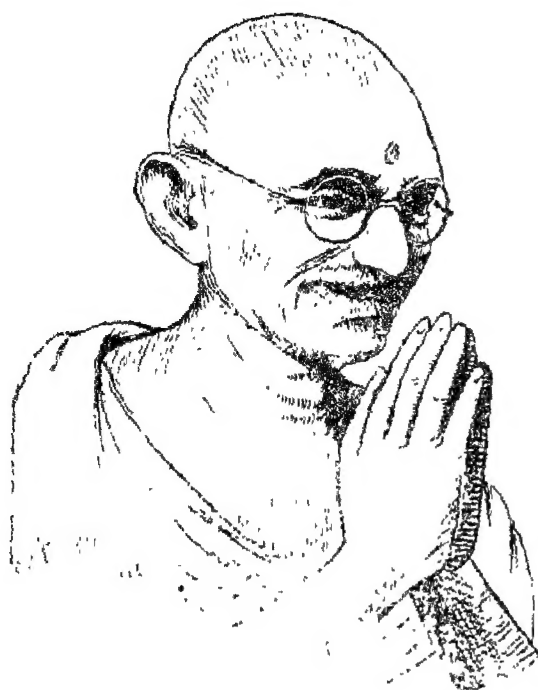
इस संग्रह में वहाँ जीवनियाँ संगृहीत की गई हैं जिनसे मानवता शान्ति [illegible] ओर बढ़ने में समर्थ हो सकी है, वहाँ उन्नतियाँ दर्शायी गयी हैं, जिनसे [illegible] दूसरों की हानि नहीं हो सकी यथा वाल्ट डिस्ने और हैरी व्हीट क्राफ्ट के प्रयास। ये प्रयास देखने में तुच्छ हो सकते हैं पर वास्तव में तुच्छ नहीं, साधना और

विश्व का लाभ दोनों हा समान रूप से सन्निहित है, इन प्रयासों में। श्री पलुस्कर और श्री तेनजिंग क्या विस्मरणीय हो सकते हैं ? उनकी साधना क्या थोड़ी है ?

विश्वास है कि इन विश्वसेवियों के चित्र 'नई पौध' को अवश्य वह मार्ग दिखाने में सशक्त हो सकेंगे जिस पर उन्हें चलना है; उन कठिनाइयों का वे वीरता-पूर्वक सामना कर सकेंगे।

—रचनाकार

सूची



विश्वात्मा — बापू

संसार का रंग-स्थल नित्य नई कृतियों से सज्जित होता रहता है, तो भी कुछ ऐसी कृतियाँ होती हैं, जिन्हें मानव इतिहास भूल नहीं पाता। प्रयत्न करने पर भी जिन आदर्शों को अपने जीवन में समाविष्ट नहीं कर पाता, उन्हीं आदर्शों का जन्मदाता महापुरुष हमारे लिए देवता या अवतार रूप में हो, हमारे हृदयों की श्रद्धा का आस्वादन करता है। युग-पुरुष बापू भी आज उसी अवस्था में हैं। हम उनके मन्दिर बनवाकर आज आराधना कर रहे हैं। यह किसी अंश में धन्यवाद के समकक्ष हो—संभव है, किन्तु, वास्तव में, महात्मा गाँधी के लिए यह आदर पर्याप्त नहीं है, वह तो जनता-जनार्दन की भलाई के लिये, हम लोगों के मध्य में एक रश्मि लेकर अवतरित हुए थे। वह

रश्मि जिस दिन भी संसार आत्मसात् कर सका, उसी दिन केवल बापू का ही नहीं, अपितु सार्वदेशिक सन्तों की साधना पूर्ण हो जायगी, और उसी दिन उन्हें सच्चा धन्यवाद दिया जा सकेगा।

यह दिव्यलोक की किरण २ अक्टूबर १८६९ ई० को पोरबन्दर (सौराष्ट्र) के दीवान पूज्य कर्मचन्द गाँधी के यहाँ चमकी। माता-पिता दोनों ही धर्मानुरागी हिन्दू थे। माँ के विषय में गाँधी जी ने स्वयं लिखा है—"हम बच्चे चातुर्मास-पारायण में सूर्यदर्शन के लिये लालायित रहा करते थे। जब भी सूर्य दिखाई देता, हम भाग कर माँ के पास जाया करते। जब तक माँ आये-आये कि सूर्य पुनः छिप जाता, और माँ को सारे दिन निराहार ही रहना होता।" ऐसे सनातन परिवार का नन्हे गाँधी पर प्रभाव पड़ना उतना ही अनिवार्य था, जितना कि ऊषा होने पर प्रकाश का फैलना, या दर्पण में प्रतिबिम्ब का दिखाई देना।

उन दिनों सम्पूर्ण भारत में बाल-विवाह की प्रथा जोरों पर थी, अतः बापू का विवाह एक अनपढ़ भारतीय बालिका से तेरह वर्ष की अल्पायु में कर दिया गया। यही अनपढ़ बालिका बाद में माता कस्तूर बा के नाम से प्रसिद्ध हुई। पत्नी को प्यार करना ऐसी दिव्यात्मा के हेतु उतना ही स्वाभाविक था, जितना कि वायु में जीवनदायिनी शक्ति का होना।

मैट्रिक पास करने के पश्चात् गाँधी जी को बैरिस्टर बनने इंगलैंड जाना रुचिकर जँचा, किन्तु उनकी माँ, जो भारतीय विचारधारा एवं रूढ़िवाद से बुरी तरह सम्मोहित थीं, इस बात के विरुद्ध थीं, क्योंकि उन्हें संशय था कि विधर्मियों के बीच उनके पुत्र का धर्म भ्रष्ट हो जायगा। गाँधी जी ने अपनी माँ को इस बात का विश्वास दिलाया कि विधर्मियों के बीच में रहकर भी वह कभी भी माँस एवं सुरा का प्रयोग नहीं करेंगे। तब कहीं अनुमति प्राप्त हो सकी।

एक बार बाल्यकाल में गाँधी जी ने 'सत्यवादी हरिश्चन्द्र' नाम का एक नाटक देखा था। वह हरिश्चन्द्र की सत्यनिष्ठा से इतने प्रभावित हुए कि वह जीवन पर्यन्त असत्य से दूर रहे। उनके बाल्य-काल की कई घटनाओं के कारण उनकी माँ को उनके वचनों का दृढ़ निश्चय था।

इंगलैण्ड से बरिस्टर बन कर वह बम्बई में आकर कार्य करने लगे, किन्तु असत्य के संसार में इस सत्यनिष्ठ को सफलता कहाँ मिलती ? तभी एक मुक़दमे के लिए उन्हें दक्षिणी अफ्रीका जाना पड़ा। वहाँ भारतीयों के साथ बड़ा अत्याचार हो रहा था। अतः इस अत्याचार के विरुद्ध सर्वप्रथम उन्होंने अपनी आवाज को बुलन्द किया और अपने जीवन के सर्वप्रथम सत्याग्रह का सूत्रपात किया। सत्याग्रह को आशातीत सफलता मिली। फलस्वरूप भारतीयों की सुविधा एवं हितों के लिए अनेक नियम बने। इसके पश्चात् वह भारत वापिस लौट आये और स्थान-स्थान पर अफ्रीका के भारतीयों की दुर्दशा का वर्णन किया। उन्होंने सौ एकड़ जमीन लेकर एक अलग बस्ती का निर्माण किया और अंगूठा आदि लगवाने के नियम के विरुद्ध सत्याग्रह किया, फलस्वरूप दो मास का कारागार भोगा।

सन् १६१६ ई० में इंगलैंड में श्री गोखले से भेंट कर वह स्वदेश लौट आये और भारत में कांग्रेस सदस्य के रूप में कार्य करने लगे। उन्हीं दिनों प्रथम विश्वयुद्ध चल रहा था। अंग्रेजों ने गाँधी जी से सन्धि कर ली और युद्ध में सहायता की याचना की। गाँधी जी ने संधि स्वीकार कर ली और जनता से सहायता की अपील की। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् सहायता के बदले में, धन्यवाद स्वरूप, जब 'रौलट एक्ट' भारत में आया। तो समस्त देश में हड़ताल और क्षोभ फैल गया। पुनः सत्याग्रह की लहर आई और गौरांग महाप्रभु ने दमनचक्र आरम्भ कर दिया। उसी समय बापू ने 'सत्याग्रही' पत्र चलाया, किन्तु सत्याग्रह एवं पत्र को जलियाँवाला बाग की दुखद घटना के कारण बन्द कर दिया। उसी समय खेड़ा जिले में अकाल पड़ा, किन्तु विदेशी सरकार लगान लेने पर तुली हुई थी, अतः बापू को सीमित सत्याग्रह पुनः करना पड़ा।

२० अगस्त १६२० को असहयोग आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। उस वर्ष नवम्बर में विलायत के युवराज भारत आये, अतएव व्यक्तिगत असहयोग आन्दोलन के साथ-साथ उनका बहिष्कार भी आरम्भ हो गया, किन्तु कुछ सिर-फिरों ने चौरा-चौरी में अहिंसा को हिंसा का रूप दे दिया, जिसके कारण बापू को इस सत्याग्रह का प्रतिपादन भी बन्द करना पड़ा।

तत्पश्चात् गाँधी जी को १६२२ में छः वर्ष का कारावास दण्ड हुआ- किन्तु

शीघ्र ही १९२४ में अस्वस्थतावश मुक्त कर दिया गया; परन्तु मानवता के हितचेता को चैन कहाँ? १९२७ में पुनः 'साइमन कमीशन' का बहिष्कार कराया। फिर २६ जनवरी, १९३० को लाहौर कांग्रेस में पूर्ण स्वतंत्रता का नारा बुलन्द कराया और उसी वर्ष नमक कानून भंग करने के अपराध में उन्हें पुनः कारावास से दण्डित किया गया। क्रान्ति एवं विप्लव क्या कभी दबाने से दबे हैं? हाँ यह अवश्य होता है कि कुछ समय के लिए चिनगारी पर राख का आवरण चढ़ जाता है, किन्तु वह अन्दर-ही-अन्दर सुलगती रहती है, और हवा का एक झोंका पुनः शोलों को भड़का देता है। अतः तत्कालीन वायसराय को बापू से सन्धि करनी ही पड़ी जो इतिहास में गाँधी-इर्विन समझौते के नाम से विख्यात है। इसी वर्ष बापू को पुनः गोलमेज परिषद् में इंग्लैंड जाना पड़ा, किन्तु वहाँ की बेरुखी से असन्तुष्ट हो स्वदेश लौट आये और पुनः सत्याग्रह किया और १९३५ में भारतीय सरकार से कानून पास करा ही लिया। फलस्वरूप समस्त देश में चुनाव हुए और राज्य सरकारें बन गईं।

१९३८ में आपने कांग्रेस से संन्यास ले लिया और अन्य कार्यों में व्यस्त हो गये।

उक्त सरकार भी अधिक दिन नहीं चल सकी, क्योंकि भारत को उसकी इच्छा के प्रतिकूल द्वितीय विश्वयुद्ध में सम्मिलित कर लिया गया था। जब क्रिप्स मिशन भी असफल एवं निराश हो लौट गया, तो बम्बई कांग्रेस में ८ अगस्त, १९४२ को 'अंग्रेजों, भारत छोड़ो' आन्दोलन चलाने का निश्चय किया गया, किन्तु उसी रात समस्त प्रमुख नेताओं को नजरबन्द कर लिया गया। फलस्वरूप, अगले दिन से ही सारे देश में दंगे फसाद, सत्याग्रह आदि प्रारम्भ हो गये। गोरांगों का दमन-चक्र भी तीव्र गति से गतिमान हुआ, किन्तु क्या कभी नवजीवन की लहर कहीं रोकी जा सकी है?

द्वितीय महायुद्ध समाप्त हुआ, ब्रिटिश सरकार ने भारतीय जनता के सम्मुख वेवेल योजना रखी, किन्तु भारत को वह मान्य नहीं हुई। इसी बीच इंगलैंड में आम चुनाव हुए और राज्यसत्ता श्री एटली के हाथ में आ गई। भारत के लिये नये वायसराय लार्ड माउन्टबेटन को भेजा गया, जिसने अपनी पूर्व योजना के अनुसार १५ अगस्त १९४७ को स्वतन्त्रता दे दी।

किन्तु उस पावन दिन जब बापू के जीवन का सावन में फल लग रहे थे, बापू नोआखाली के साम्प्रदायिकता से पीड़ित लोगों के मध्य घूम रहे थे। वहाँ उन्मत्त जनता को शान्ति का उपदेश दे रहे थे, किन्तु मूर्ख जनता उस उपदेश को ग्रहण नहीं कर सकी। फलस्वरूप गांधी जी को अपने जीवन की बाजी लगा देनी पड़ी—अनशन-व्रत शुरू कर दिये। आखिर मूर्ख जनता को समझ आई और अपने परम-पूज्य बापू की बात को मान लिया। वहाँ से गाँधी जी देहली आये और यहीं वह दुखद घटना ३० जनवरी, १९४८ की शाम को घटी, जिस पर इतिहास के पृष्ठ सदा रोते रहेंगे।

बापू की अहिंसा

लगभग दो हजार वर्ष पूर्व विश्व में महात्मा ईसा ने जन्म लेकर मनुष्य मात्र को अहिंसा का पाठ पढ़ाया। महात्मा बुद्ध, महावीर स्वामी और चैतन्य महाप्रभु, सभी अहिंसा के उपासक थे; सबने अपने-अपने दृष्टिकोण से अहिंसा की परिभाषा की; सब ही ने उसे जीवन में पाला। महात्मा गांधी अहिंसा के अनन्य पुजारी थे। बापू की अहिंसा का रूप सर्वश्रेष्ठ एवं विचित्र था। कुछ लोगों का कहना था कि 'अहिंसा तो निर्बल का शस्त्र है, भिक्षुओं की अपनी थाती है'। अतः उन्हें स्वतन्त्रता प्राप्ति में सन्देह था, उनका मत था 'क्या कहीं माँगने अथवा दीन बनने से भी स्वराज्य या स्वतन्त्रता की प्राप्ति हुई है?' उदाहरण के लिए सारा इतिहास उनका गवाह था—रक्तपात अथवा युद्ध के बिना कभी किसी को स्वतन्त्रता नहीं मिल सकी है; किन्तु बापू की यह गौरवपूर्ण विजय—अधर्म पर धर्म और शान्ति की विजय—अपना स्थान अद्वितीय ही रखे हुए है। समस्त संसार उस समय आँखें फाड़कर देख रहा था, जब लाल किले पर लहराता हुआ, उन्मुक्त वायु में कल्लोल करता हुआ, झंझावात से जूझता हुआ तिरंगा झंडा सम्पूर्ण विश्व को अहिंसा और शान्ति का सन्देश मुक्तकण्ठ से सुना रहा था।

बापू ने अनेक बार अहिंसा को समझाने का प्रयत्न किया। उनके शब्दों में "अहिंसा किसी दीन अथवा दुर्बल व्यक्ति का शस्त्र नहीं था।" स्वयं ही अनुमान लगाइये, एक व्यक्ति पर लाठी एवं डण्डों के निरन्तर प्रहार हो रहे हों संगीनें

सीने पर धरी हो, ऐसे समय में उसे रोष नहीं आये, मौन साधे अपने निश्चय पर अडिग खड़ा हो—बताइये, इससे बड़ी वीरता और क्या हो सकती है ? किन्तु साथ-साथ एक भ्रान्ति और दूर कर दी जाय, तो सम्भवतः बहुत उपयुक्त रहेगा, कि गाँधीजी की अहिंसा का ध्येय यह नहीं था कि कोई तुम्हारे एक गाल पर चाँटा मारे, तो तुम दूसरा भी आगे कर दो। बापू राम और कृष्ण के अनन्य भक्त थे, गीता उनका प्रिय ग्रन्थ था, जिसमें अर्जुन को शस्त्रों से शत्रुओं को काट डालने की प्रेरणा दी गई है। किन्तु गाँधी जी स्वयं भी युगान्तरकारी थे, उनके अपने भी कुछ आदर्श थे। एक दिन प्रार्थना सभा में जब उन्हें एक लड़की का पत्र मिला था जिसमें उसने लिखा था कि लड़के उन्हें बाजार चलते हुए छेड़ते हैं, और उसने अहिंसा का मार्ग अपनाते हुए इस विपद से छुटकारा पाने का मार्ग पूछा था, तो बापू ने उसका उत्तर दिया था, "तो तुम उन्हें पकड़ लो और यदि वे इतने शीघ्र चल रहे हों, कि तुम्हारी पहुँच से बाहर हो जायें, तो जो कुछ भी तुम्हारे पास हो तुम फौरन उनके फेंक कर मार दो।" अतः हमारे बापू की अहिंसा एक नये प्रकार की अहिंसा थी, जिसमें मनुष्य को अधिक-से-अधिक शारीरिक कष्ट सहन करने की तो आज्ञा थी, किन्तु मानसिक कष्ट के विरुद्ध प्रत्येक ढंग से लड़ने की भी आज्ञा थी। इसके साथ ही उनकी यह चेतावनी थी कि वह लड़ाई कहीं ऐसे फल न लाये कि जो मानसिक कष्ट आप को है, वही दूसरे को आपकी विजय के पश्चात् हो जाय, वरन् उससे आपके कष्टों का, आपके ऊपर होने वाले अत्याचारों का ही अन्त हो जाना पर्याप्त है। यही उनकी अहिंसा, यही उनकी शान्ति है।

भारतीय गाँधी

इस पक्ष में बापू का वह कर्मक्षेत्र हमारे सम्मुख आता है, जो बापू को विश्वबन्धु का रूप देता है। इसके अन्तर्गत कृषक-समस्या, हरिजन-समस्या एवं नैतिक स्तरवृद्धि आ जाती है।

कृषकों के लिए बापू ने वह मार्ग प्रदर्शित किया, जिसकी उन्हें आवश्यकता थी। आदि से अन्त तक उन्होंने केवल कृषकों को ही अपना सच्चा प्रतिनिधि माना है। वह भारत के गाँवों को आदर्श गाँव बनाना चाहते थे, वह गाँवों के आपसी द्वेष-भावों को ग्राम पंचायत में ही निबटवाना चाहते थे—वह भारत को रामराज्य का सच्चा प्रतीक बनाना चाहते थे।

हरिजन-समस्या भारतवर्ष की उन जटिल समस्याओं में से एक थी जो राष्ट्र की नींव को खोखला किये डाल रही थी। कई करोड़ हरिजन सभ्य हिन्दू वर्ग से उपेक्षित थे, किन्तु बापू की तीव्र एवं दूरदर्शी दृष्टि से वे ओझल नहीं हो सके, उन्होंने स्वयं हरिजनों के साथ बैठ कर खाया, उनके साथ मल-मूत्र उठाया, उनकी झोपड़ियों को साफ किया और भारतीय संविधान में अस्पृश्यता को अपराध का रूप दिलवाया और उन्हें समानता का दर्जा दिलवाया। इस बात के विरुद्ध अनेक विद्वानों ने वितण्डा खड़ा किया, शास्त्र-पुराणों के प्रसंग याद दिलाये, किन्तु अपनी धुन के पक्के बापू ने उन सबको नजर अन्दाज कर अपनी आत्मा की ध्वनि को पहचाना और उसका अनुकरण किया।

नैतिक स्तर की ओर भी बापू का ध्यान गया और उन्होंने शराबबन्दी आदि कुटेवों के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई। आज भारत सरकार के चरण इस ओर उठ रहे हैं——ईश्वर सफलता प्रदान करे।

बापू विश्वात्मा थे, युग पुरुष थे, संसार का हर प्राणी उनका बच्चा था, संसार की हर भाषा उनकी अपनी भाषा थी, संसार की सभी सभ्यताएँ उनकी अपनी सभ्यता थीं, तभी उन्होंने यह कभी भी नहीं सोचा कि स्वतन्त्र भारत में केवल अमुक-अमुक जातियाँ ही रहेंगी, वरन् संसार की समस्त जातियाँ उनके देश की नागरिकता प्राप्त कर सकती हैं——यही उनका निश्चय था। इस देश में उन पर कोई संकट नहीं होगा, यही उनका स्वप्न था, यही था उनका रामराज्य !

उस दिन जब समस्त भारत में स्वतन्त्रता की उन्मुक्त एवं आनन्दित सरिता लहरें मार रही थी, वह डेढ़ पसली का अकेला प्राणी शान्ति की अनन्त माला लिये हुए नोआखाली की धधकती हुई भट्टी में खड़ा हुआ था। क्यों ? इसीलिए कि वहाँ भी उसके ही बच्चे थे।

आत्मा को एक-न-एक दिन परमात्मा में लीन होना ही पड़ता है; किन्तु हत्यारे नाथूराम गोडसे ने उस दिव्यात्मा को असमय ही परमात्मा में लीन करा संसार को तिमिर के गहन गर्त में ढकेल दिया। संसार खून के आँसू रोया, एशिया का चमन लुट गया, योरोप का सुहाग मिट गया, किन्तु·········

अनेक श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की गईं। जार्ज बर्नार्ड शॉ ने कहा था "मैं समझता था कि दुनियाँ दो हजार वर्ष पूर्व ही जंगली थी, किन्तु देखता हूँ कि वह आज भी उसी दशा में है।"

जाने वाला चला गया और हमारे लिए ऐसे आदर्श छोड़ गया, जो युग-युगान्तर तक हमारे मार्ग को आलोकित करते रहेंगे।

शान्ति के
ग्रदूत



ताल नेहरू

ां से मनुष्य को पिपासा रही है, ऐश्वर्य, वैभव एवं रा
: और इसका परिणाम यही हुआ, होता है, और हो रहा
य का नाश, समृद्धिशाली नगरों का विनाश। वैभव एवं ि
ध्येय एकसा रहता है, किन्तु उसके साधनों में परिवर्तन
मय के साथ-साथ। जब मनुष्य असभ्य था, वह पत्थरों
से वैभव का विस्तार करता था। ज्यों-ज्यों सभ्यता अपने
ी, त्यों-त्यों पत्थरों का स्थान तीर, भाले, बर्छी ने, और
बन्दूक-तोप ने, बन्दूक-तोप भी पुरानी चीज हो गई तो

बम और हाईड्रोजन बम ने ले लिया—और इस प्रकार विनाश का रौरव नृत्य, क्रूर अट्टहास के साथ अपनी प्रगति करता रहा। किन्तु, जहाँ मानव ने विनाश की ओर पग बढ़ाये, वहाँ कुछ सुलझे मस्तिष्कों से सम्पन्न व्यक्तियों ने उस दुर्बुद्धि मानव को शान्त करने का प्रयास किया—और इस प्रयास का मूक-मूलक नाम 'शान्ति' रखा।

समय-समय पर अनेक महापुरुषों ने हमारे सम्मुख शान्ति का नया आदर्श रखा, किन्तु आज के इस अणु-उदजन युग में शान्ति की चेष्टा करना, कोई भी विज्ञान प्रेमी मूर्खता से कुछ अधिक नहीं समझता था। फिर भी भारत के मौर-मुकुट, प्रशासित दिनकर, विश्व-शान्ति के अग्रदूत श्री पंडित जवाहरलाल नेहरू का नाम विज्ञान के इस युग में मूर्खता तो प्रदर्शित नहीं करता, किन्तु अपनी ज्वलन्त एवं अनुकरणीय बुद्धिमत्ता को अवश्य प्रकट करता है। जबकि दो ऐसे देशों की प्रतिस्पर्धा अपना वैभव बढ़ाने के हेतु चल रही थी, जो प्रत्येक दृष्टिकोण से नवीन एवं आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्रों से परिपूर्ण थे, उनके बीच समझौता करा देना, कोई बच्चों का खेल नहीं था। किन्तु इस नरपुंगव ने अपनी सतत चेष्टाओं से सन्धि कराकर ही छोड़ी, और आज उसका परिणाम हमारे सम्मुख है—हमें तृतीय महायुद्ध की मनहूस शक्ल देखने का कुअवसर प्राप्त न हुआ।

इसके अतिरिक्त भारत के ही इतिहास में नहीं, वरन् संसार के इतिहास में जवाहरलाल नेहरू का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। इस युग के उन महापुरुषों का जब-जब भी नाम लिया जायेगा, जिन्होंने सोते हुए एशिया के लिए जागृति का मन्त्र फूँका, तब-तब यह नाम नक्षत्र के समान दैदीप्यमान् हो अपनी छटा को फैलाता रहेगा। हमारे देश की स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर जहाँ अनेक लोग अपना सब कुछ समर्पित कर गये हैं, वहाँ पंडित जी भी अपने ऐश्वर्य को त्यागने में किसी से पीछे नहीं रहे। उन्होंने अपना सभी कुछ तो तिरंगे ध्वज और भारतीय शस्यश्यामला के चरणों में अर्पित कर दिया; एक व्यक्ति इससे अधिक और कर भी क्या सकता है?

जवाहरलाल नेहरू के विषय में एक भ्रान्ति फैली हुई है कि उनका गोत्र ही नेहरू है, किन्तु यह बात उन्होंने स्वयं अपनी आत्मकथा में खंडित की

है "हमारा वंश काश्मीर में एक नहर के किनारे रहता था, साथ ही प्रसिद्ध भी था, अतः नहर के किनारे रहने वाले होने के कारण हमारा नाम नेहरू पड़ गया।" सन् १८२७ ई० के आस-पास आपके दादा को किन्हीं कारणों से काश्मीर त्याग करना पड़ा और वह दिल्ली आकर, वहीं स्थायी तौर से बस गये। जिस समय श्री मोतीलाल नेहरू गर्भ में थे, तभी आपके दादा स्वर्ग-पथ के अनुगामी हो गये। उनकी मृत्यु के कुछ मास उपरान्त मोतीलाल जी ने संसार सागर की प्रथम किरण देखी। उस समय नेहरू वंश की पारिवारिक स्थिति अत्यन्त कष्टप्रद थी, ज्यों-त्यों परिवार का भरण-पोषण हो रहा था। उसी कठिनाई के वातावरण में मोतीलाल नेहरू का अध्ययन चला। किसी प्रकार वह बैरिस्टर बन प्रयाग में हाईकोर्ट (उच्च न्यायालय) में आ गये। यहाँ उनकी आर्थिक स्थिति ने एकदम मोड़ लिया और कुछ ही अर्से में नेहरू-परिवार राजस्व भोग प्राप्त करने लगा।

प्रयाग, त्रिवेणी की संगमस्थली पर, जहाँ गंगा, यमुना एवं सरस्वती का पुनीत एवं अमर मिलन हो रहा है, १४ नवम्बर, १८८९ ई० को नेहरू वंश की गंगा में, मोती की अमल धार से, जवाहर की विमल धारा का मधुर संगम हुआ।

कुछ ही दिनों पश्चात् जवाहरलाल को पढ़ने बैठा दिया गया। घर पर एक पंडित संस्कृत पढ़ाने, एक आंग्ल युवती अँग्रेजी पढ़ाने और एक मौलवी उर्दू पढ़ाने आने लगे। पढ़ने-लिखने में नन्हा जवाहर नक्षत्र के समान जगमगाता सिद्ध हुआ। अल्पकाल में ही आवश्यक शिक्षा प्राप्त करा, नन्हे जवाहर को इंग्लैंड भेज दिया गया, उस समय उसकी आयु केवल बारह वर्ष की थी।

नन्हे जवाहर ने शैशवावस्था से किशोरावस्था, किशोरावस्था से यौवन में प्रवेश किया। विवाह की बात चली, तो आपके भावी श्वसुर ने आपको देखने के लिए अपने घर दिल्ली में बुलाया। पिता मोतीलाल ने हर्षित हो जवाहर को देहली जाने का आदेश दे दिया, किन्तु अभी होनहार जवाहर विवाह नहीं करना चाहते थे, अतः वह बहुत बिगड़ रहे थे; सब नौकरों को डाँट-फटकार रहे थे, माँ के सामने जाकर गिड़गिड़ाये भी, गर्म भी हुए, कि वह पिता जी से कहे कि विवाह करने की अभी कौन शीघ्रता है? किन्तु

विवश माँ में इतना साहस कहाँ था कि वह अपने लाल के भावों को अपने पति के सम्मुख प्रकट कर सके। इधर-उधर अपने कमरे का सामान फेंक जनाब ने अपना रोष प्रकट करना शुरू किया। मोतीलाल ने जब इस सम्वाद को सुना, तो फौरन जवाहर को बुला भेजा और पूछा, "क्यों रे जवाहर! यह कैसी गड़बड़ मचा रखी है?" बालक जवाहर मन-ही-मन अपने पिता की चढ़ी त्यौरियाँ देखकर अत्यन्त विचलित हुए, और बड़ी कठिनाई से अटक-अटक कर कह पाये, "जी, कुछ......नहीं......वह........खिड़की से....एक बन्दर.......बन्दर.......घुस आया था.......वही गड़बड़ मचा........रहा........था।" पंडित मोतीलाल अपने बुद्धिमान् पुत्र का उत्तर सुन मन-ही-मन बहुत हँसे, और पूछा, "अब तो भाग गया है, वह?"

"जी हाँ," सकुचाये जवाहर ने उत्तर दे दिया।

"तो जाओ, अचकन और पगड़ी पहन दिल्ली के लिये प्रस्थान करो।"

सर्वोच्च की आज्ञा को कानों से निकाल देना कोई मामूली बात नहीं थी, अतः विवश हो जवाहर को दिल्ली जाना पड़ा और परिणाम स्वरूप आपको वैवाहिक बन्धन में बाँध दिया गया। आपका विवाह श्रीमती कमला पंडित से हुआ था, जिसकी अब जवाहर के पास एक मात्र निशानी है—इन्द्रा गाँधी।

अपने इंग्लैंड के अध्ययन काल में जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुत्री इन्द्रा को अनेक पत्र लिखे थे, जो अभी तक बालकों के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं। एक प्रतिभापूर्ण लेखक के साथ-साथ आप एक प्रतिभाशाली छात्र और एक चतुर खिलाड़ी भी थे। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आपकी प्रतिभा बहुमुखी थी। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के अध्ययन काल में आप लाला हरदयाल जैसे राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं से मिलते रहते थे, और उन्हीं के संसर्ग के कारण आप गर्म दल के समर्थक हो गये थे।

आप जब अपना अध्ययन समाप्त कर भारत लौटे, तो बापू का स्थान पर्याप्त ऊँचा उठ चुका था। पंडित मोतीलाल गाँधी जी की नीति से अतीव प्रभावित थे, किन्तु उनका पुत्र गर्म दल का समर्थक था, यह बात उन्हें कुछ जँच नहीं रही थी, वह उसे अपने साँचे में ढालना चाहते थे। इसके साथ-साथ वह इस

बात से माँ भिज्ञ थे कि उनका पुत्र जवाहर अब बड़ा हो चुका है उसकी अपनी भावनाएँ भी थीं, जिन पर उसे कार्य करना था। अब बचपन का वह रौब काम नहीं कर सकता था, इतिहास ज्ञान उसे बता चुका था कि युद्ध केवल शस्त्रों से होता है—माँगना, हाथ फैलाना, गिड़गिड़ाना कायरता के लक्षण हैं, अतः जबरदस्ती नर्म दल का अनुयायी नहीं बनाया जा सकता था। उधर महात्मा गाँधी चाहते थे कि जवाहर उनके साथ कदम मिलाकर चलें, किन्तु उसे अपने विचारों का समर्थक बनाना गाँधी जी को भी टेढ़ी खीर लग रहा था। पंडित मोतीलाल ने कई बार जवाहरलाल को समझाने का प्रयास किया। अन्ततोगत्वा एक दिन जवाहरलाल का गाँधी जी से भेंट करने का समय निश्चित हो ही गया। गाँधी जी आये, दो मिनट तक दोनों शान्त बैठे रहे, और फिर गाँधी जी उठ कर चले गये। जवाहरलाल पर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। दूसरी बार भेंट के लिए पुनः समय निश्चित किया गया। इस बार भी दस मिनट की मौन भेंट होकर रह गई। इस बार जवाहरलाल बड़े विचलित हो उठे, और स्वयं उत्कण्ठा से अगली भेंट की प्रतीक्षा करने लगे।

उत्कण्ठा में पर्याप्त समय बीत गया, और फिर एक दिन वह सुनहरा दिवस आ ही पहुँचा, जब एक विचारधारा को दूसरी विचारधारा से टक्कर होनी थी। पंडित जवाहरलाल नेहरू बहुत-कुछ कहना चाहते थे, किन्तु व्यवहार-कुशल बापू अपनी शान्त छवि पर मौन का अटूट साम्राज्य व्यवस्थापित कर बैठे रहे। शनैः-शनैः आधा घंटा भूत के गर्भ में चला गया, यह अवधि दोनों ने किस प्रकार व्यतीत की होगी, इसे तो वे दोनों ही बता सकते हैं, किन्तु जवाहरलाल के लिए वह चुप्पी, वह मौन, अब असहनीय हो उठा था उन्होंने वाद-विवाद, तर्क-वितर्क का श्रीगणेश कर ही दिया। महात्मा गाँधी विवाद से सदैव नज़र बचाने वाले रहे हैं, वह आत्मविश्वास पर अधिक ज़ोर देते थे, अतः वीर जवाहर को बापू की शतरंजी चाल के समक्ष मात खानी ही पड़ी—और गरमदल का समर्थक सदैव के लिए बापू के अहिंसात्मक उज्ज्वल आदर्शों का अनुयायी हो रहा।

बापू की नीति के प्रबल समर्थक होने के पश्चात् १९२७ में आपने 'सायमन कमीशन' का घोर विरोध किया, फलस्वरूप डंडे का स्वाद और कारावास का

आनन्द भोगा और फिर तो अखिल भारतीय कांग्रेस के इतिहास के साथ-साथ भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के इतिहास में चिरस्मरणीय अनेक आन्दोलनों का आपने सूत्रधारण किया।

एक आन्दोलन के फलस्वरूप, जब पंडित जवाहरलाल नैनी जेल में बन्द थे, तभी अचानक आपकी पत्नी श्रीमती कमला नेहरू को राज-यक्ष्मा ने आ दबोचा। उन्हें स्विज़रलैन्ड के सर्वश्रेष्ठ सेनिटोरियम में भेज दिया गया, किन्तु उनकी स्थिति एवं स्वास्थ्य निरन्तर गिरता ही गया। जब आपकी अर्द्धाङ्गिनी की दशा अत्यधिक शोचनीय हो गई, तो ब्रिटिश सरकार ने आपको मुक्त कर दिया। मुक्त होते ही आप स्विज़रलैण्ड पहुँचे और अपनी बीमार पत्नी को ढाढस बँधाने लगे। धीरे-धीरे वह स्वस्थ होती जा रही थी, किन्तु दैव कुछ और का इच्छुक था, अकस्मात् ही आपकी जीवन-संगिनी का जीवन-दीप सदा के लिए शान्त हो गया। कमला जी निस्सहाय जवाहर को अकेले ही राष्ट्र की सेवा में समर्पित कर गयीं।

१९४२ में महात्मा गाँधी ने 'भारत छोड़ो' आन्दोलन चलाने की योजना बनाई। योजना को ९ अगस्त की सुबह से कार्य रूप में लाना था, किन्तु ८ अगस्त की रात्रि को देश के समस्त प्रमुख नेताओं को सींखचों के पीछे ठूँस दिया गया। १९४६ में द्वितीय महायुद्ध की प्रखर ज्वालाएँ शान्त हुईं, अंग्रेजों ने कांग्रेस से समझौता कर लिया और अन्तरिम सरकार निर्माण करने का प्रस्ताव रखा, जिसे बापू ने स्वीकार कर लिया। फलस्वरूप समस्त राजनैतिक बन्दी मुक्त कर दिये गये। मुक्त होते ही आपने समस्त देश का तूफानी दौरा किया और जनता को स्वतन्त्रता के स्वागतार्थ तत्पर रहने का उपदेश दिया। समस्त देश ने आपके विचारों का प्रबल समर्थन किया और भारत का प्रत्येक नर-नारी एक स्वर हो आजादी की माँग करने लगा।

उधर सुभाषचन्द्र बोस की 'आजाद हिन्द फौज' के कुछ सैनिक युद्धबन्दी हो लाल किले में कष्ट भोग रहे थे। उन पर गोरी सरकार देश-द्रोह का अभियोग लगा रही थी। आपने स्वर्गीय श्री सरदार वल्लभभाई पटेल, और स्वर्गीय श्री भूलाभाई देसाई के सहयोग एवं अपने सतत परिश्रम से लाल किले में युद्धबन्दियों पर चलाये गए ऐतिहासिक मुकदमे को जीत लिया और आजाद

हिन्द फौज के सैनिकों को पुनः मुक्त वायु में विचरण करने के लिए अधिकार दिलवा दिये।

दिन-प्रति-दिन भारतीयों की स्वतन्त्रता की माँग दृढ़ होती जा रही थी। लार्ड वेविल वायसराय बन कर आये और अपनी योजना भारतीय जनता के सम्मुख रखी। परिणामतः अन्तरिम सरकार की स्थापना हुई—पंजाब और बंगाल में मुस्लिम लीग का बहुमत स्थापित हो गया। सारे देश में साम्प्रदायिकता की आग धधक उठी; मानव, मानव के खून का प्यासा हो गया; पड़ोसी, पड़ोसी का प्यार भूल बैठा; दोस्त, दोस्ती छोड़, धर्म एवं सम्प्रदाय के गुलाम बन, मित्र को मारने में गौरव समझने लगे; अपने-पराये का कोई भरोसा नहीं रहा; नारियों का सतीत्व लूटना, जीवित बालकों को आग में फेंक देना, गाँव-के-गाँव और बस्ती-की-बस्ती फूँक देना तो बच्चों के खेल के समान हो गया था।

यह सब देख राष्ट्र के कर्णधारों पर क्या बीती होगी? नृशंसता के इस नंगे नाच को वे किन आँखों से देख पाये होंगे, यह तो नितान्त अवर्णनीय है। समय की पुकार को देखते हुए महात्मा गाँधी ने देश को दो भागों में विभक्त करने का निश्चय कर लिया। इस बीच में लॉर्ड माउन्टबेटन वायसराय बन कर भारत आ चुके थे। उन्होंने शिमला-परिषद् बुलाई, और इस परिषद् में भारत को दो भागों में विभाजित कर स्वतन्त्रता देने के फैसले पर हस्ताक्षर कर दिये।

इस निर्णय के अनुसार भारत को स्वतन्त्रता मिल गई, और पंडित जवाहरलाल नेहरू को भारत का सर्वप्रथम प्रधान मन्त्री चुना गया। इसके पश्चात १९४९ तक आप भारत का संविधान बनाने में अथक प्रयास करते रहे और २६ जनवरी १९५० को नये विधान के अनुसार भारत को गणतंत्र राज्य घोषित कर दिया।

जवाहरलाल की प्रतिभा ज्योतिर्मयी हुई, भारत सरकार का प्रधान-पद संभाल कर सरदार पटेल की मृत्यु के उपरांत आपने कई उत्तरदायित्वों को ग्रहण किया; जैसे प्रधान मन्त्री, विदेश मन्त्री, गृह मन्त्री एवं कांग्रेस के अध्यक्ष—आपने प्रत्येक विभाग का प्रतिपादन बड़ी कुशलता से किया। देश के उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचाने के लिए आपने अपने विशद

एवं पारपक्व मस्तिष्क का उपज प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजना को कार्य रूप में परिणित किया। इन दोनों योजनाओं के अन्तर्गत सारे देश को अधिक अन्न, अधिक उत्पादन, अधिक मकान, अधिक काम, अधिक बिजली, राष्ट्र एवं गाँवों का विकास, रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करने के प्रयास किये जाने लगे।

अभी पिछले दिनों आपका विचार छह मास अवकाश कर प्रधान-पद का त्याग करने का था, और किसी अन्य योग्य व्यक्ति को यह पद देने की इच्छा थी, किन्तु तभी अकस्मात् श्री रफी अहमद किदवई साहेब के अकस्मात् निधन ने इस विचार को कब्र में दफना दिया। इस विचार को प्रकाशित करते हुए आपने कहा था, "किसी भी बड़े एवं उन्नतशील राष्ट्र को एक ही व्यक्ति के सहारे पर नहीं रखा जा सकता है। उसका स्थान ग्रहण करने के लिए अन्य लोगों को भी होना चाहिए।" यह है त्याग की एक और अन्यतम महान् पराकाष्ठा, फिर क्यों न यह विशाल राष्ट्र लम्बी अवधि के लिए ऐसी महान् विभूति पर आधारित रह सके।

अन्य महापुरुषों की भाँति आपको भी बच्चों से अत्यधिक प्रीति है—केवल भारत के बच्चों से ही नहीं, वरन् समस्त संसार के शिशु समाज से। समस्त संसार के बच्चे आपको 'चाचा नेहरू' कहते हैं, और आप अपने इस उत्तर-दायित्व को खूब समझते हैं। यदाकदा आप उन्हें भारत से दुर्लभ उपहार भेजते रहते हैं। जापान के बच्चे, अमेरिका की बाल जनता चाचा नेहरू के भेजे हुए हाथियों के उपहार से अत्यन्त प्रमुदित हुए हैं और अपने चाचा को शत-शत वर्ष तक जीवित रहने की कामना करते हैं।

साहित्यिक क्षेत्र भी आपके पगों से नहीं बच सका। आपने अनेक विश्व प्रसिद्ध रचनाओं का सृजन किया, जिनमें 'हिन्दुस्तान की कहानी', 'मेरी कहानी', 'आजादी के बाद का हिन्दुस्तान', 'विश्व इतिहास की झलक', 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' आदि अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। आपने हिन्दी और अङ्गरेजी दोनों ही भाषाओं पर एकाधिकार किया हुआ है।

जवाहरलाल नेहरू इस समय भारत के ही नहीं, वरन् समस्त एशिया के नेता हो गए हैं। चीन, हिन्देशिया, बर्मा, लङ्का, युगोस्लाविया आदि आप ही को

गत को मान्यता देते हैं। यह होने के साथ-साथ आप विश्व-शान्ति के अग्रदूत भी हैं। कोरिया की अड़तीसवीं अक्षांश की समस्या का जो हल आपने निकलवाया, गिरे हुए राष्ट्रों को संयुक्त राष्ट्र संघ में जो उचित स्थान दिलवाया, जिस प्रकार आपने रूस एवं अमेरिका की सद्भावनाएँ प्राप्त कीं, वे संसार के समक्ष नया आश्चर्य हो कर रह गई हैं। आपकी अमेरिका, रूस एवं चीन की यात्राएँ ऐतिहासिक यात्राएँ हो गई हैं।

कोलम्बो सम्मेलन, बांडुंग का अफ्रो-एशियन सम्मेलन एवं जनेवा कान्फ्रेन्स में इस वीर सेनानी की सिंह गर्जना गूँजी और अन्य राष्ट्रों को विवश किया, कि वे पिछड़े हुए राष्ट्रों को समानता का दर्जा दें, संसार में शान्ति स्थापना के लिए प्रयत्नशील रहें। बांडुंग सम्मेलन में आपके द्वारा संसार के समक्ष प्रस्तुत किया हुआ 'पंच शील' का नया आदर्श विश्व-शान्ति के लिए एक और अविस्मरणीय एवं चिरस्मरणीय प्रयास है। यह निश्चित है कि यदि संसार का प्रत्येक राष्ट्र पंचशील के आदर्शों को सामने रखकर अपनी नीति बनाये, तो संसार से युद्ध का भय हमेशा के लिए दूर हो जावेगा।

ऐसे वीर जवाहर को यदि समस्त राष्ट्र, समस्त एशिया, समस्त संसार प्रेम करे, तो कोई आश्चर्य नहीं है।

के उत्तराधिकारी

र्य विनोबा भावे



जमीन दो कि शान्ति से नया समाज ला सकें।
जमीन दो कि राह विश्व को नयी दिखा सकें॥
जमीन दो कि प्रेम में समत्व सिद्धि पा सकें।
जमीन दो कि दान से कृपाण को लजा सकें॥

सुरम्य शान्ति के लिए जमीन दो, जमीन
महान् क्रान्ति के लिए जमीन दो, जमीन

—

ष्टि के प्रथम प्रभात में जीव की तीन प्राथमिक आवश्यक
काम, दाम, आराम। और इन्हीं तीनों आवश्यकत
नेक युद्ध हुए, अनेक खूनी क्रांतियाँ आईं, किन्तु प

क्रान्ति के समाप्त होते ही उसमे ही दूसरी क्रान्ति के बीज पड़ गए। धीरे-धीरे, फिर कुछ समय के पश्चात्, उस क्रान्ति ने दूसरे रूप में जन्म ले लिया। मनुष्य मनुष्य का, भाई भाई का शत्रु हो गया, और पहले ने दूसरे को अथवा दूसरे ने पहले को समाप्त कर दिया—यह चक्र निरन्तर इसी प्रकार चलता रहा, समस्या बढ़ती गई, हल कोई नहीं मिल सका।

उन्नीसवीं शताब्दि के अन्तिम चरणों में इस बात को समझा रूस के एक अति दीन तथा भूखे रहने वाले परिवार के अध्यक्ष कार्ल मार्क्स ने और उसने हल भी निकाला—भूमि का उचित बटवारा। धीरे-धीरे इस बात को सब ही समझ गये एवं बटवारे के ढंग नियत करने लगे।

बीसवीं शताब्दि के अन्दर इसके तीन मार्ग निकले। पहला रूस का : सामन्तों को मिटा दिया जाये ; दूसरा अमेरिका का : सामन्त किसान को मूर्ख बनाते रहें; एवं तीसरा सन्त विनोबा का : सद्भावना का, दान का।

आज के विनोबा ११ सितम्बर, १८९५ ई० को बम्बई के कोलाबा ज़िले के गागोदा नामक ग्राम में पैदा हुए थे। उनके पूज्य पिता श्री नरहरि शम्भुराव भावे तथा वन्दनीया माता रुक्मिणी देवी अत्यन्त नियमनिष्ठ एवं धर्मपरायण व्यक्ति थे। पिता जी बरोदा राज्य के टेक्सटाइल इन्जीनियर थे और अपने समय का अधिकांश राज्य सेवा में ही लगा देते थे, अतः बालक विनोबा का जन्म पितामह शम्भुराव के घर ही हुआ और वहीं पालन-पोषण भी।

विनोबा का नाम विनायक नरहरि भावे रखा गया। पितामह भी अत्यधिक धर्मज्ञ थे, उन्हीं के प्रभाव से विनोबा जी आध्यात्मिकता की ओर झुके। उनके जीवन पर उनकी माँ का भी अतीव प्रभाव पड़ा है। वह प्रायः कहा करते हैं, 'सेवा तो मैंने माँ से सीखी है। माँ हमारे पड़ोसियों की रसोई उनकी आवश्यकता पड़ने पर बना आती थीं, अपने घर की रसोई वह सुबह ही बना लिया करती थीं। एक दिन विनोद करते हुए मैंने पूछा, 'माँ, तू कितनी स्वार्थिनी है, अपने घर की रसोई पहले बना लेती है, और हमारी बाद में।' उत्तर में उन्होंने हँस कर प्यार से कहा था : 'विनायक, तू बहुत मूर्ख है, मैं दूसरों की रसोई देर से इस कारण बनाती हूँ, ताकि उन्हें गर्म भोजन मिल सके।'

यतः विनोबा के पिताश्री संगीत के मर्मज्ञ भी थे, उनका भी विनोबा पर विशेष प्रभाव है। एक बार विनोबा ने कहा था : 'बचपन में मुझे मुरली अत्यन्त मधुर लगती थी। मुरली हमारा राष्ट्रीय वाद्य है, गरीब से अमीर तक सभी के लिये सुलभ है। रात्रि के मधुर मौन में जब कहीं दूर से मुरली की मधुर तान कान मे पड़ती है, तो भगवान श्रीकृष्ण के दिव्य चरित्र का पुनीत स्मरण आये बिना नहीं रहता।'

विनोबा के चार भाई एवं एक बहिन हैं। उनमें से बालकोबा जी निसर्गोपचार आश्रम में कार्य कर रहे हैं। शिवाजी गीता और विनोबा साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् हैं। विनोबा जी समस्त देश को साम्ययोग की ओर बढ़ाने में साधना रत हैं। समाचार पत्रों का अध्ययन करने की रुचि विनोबा को बाल्यकाल से ही रही थी, बचपन में वह श्री बालगङ्गाधर तिलक द्वारा सम्पादित 'केसरी' को माँ को भी पढ़कर सुनाया करते थे।

विनोबा एवं अन्य बन्धुओं की प्राथमिक शिक्षा-दीक्षा घर पर ही चली थी। जब शम्भु जी १८९८ में बरोडा चले आये और वहीं स्थायी रूप से रहने लगे तो १९०५ में अपने परिवार को भी वहीं ले आये। शम्भु जी स्वयं अच्छे शिक्षाशास्त्री थे, अतः दो वर्ष तक उन्होंने स्वयं ही अंग्रेजी गणित आदि पढ़ाये।

१९१० में विनोबा को नियमित पाठशाला में भेजना प्रारम्भ कर दिया। पाठ्यपुस्तकों के अतिरिक्त उन्हें अन्य विषयों की पुस्तकें पढ़ने में अधिक आनन्द आता था जिससे उनके ज्ञान की श्रीवृद्धि निरन्तर तीव्रता से होती रही। गणित में वह, अन्य विषयों की अपेक्षा, अधिक प्रतिभाशाली रहे और उसे जीवन में भी आत्मसात् कर लिया।

विनोबा जब हाई स्कूल (पूर्व-माध्यमिक) कक्षा में पढ़ रहे थे, तो उनके पास घर से एक पत्र आया जिसमें उनके विवाह को सम्पन्न करने का प्रस्ताव था। उन्होंने तुरन्त उत्तर में लिख दिया : 'यदि तुम्हें मेरी आवश्यकता नहीं है, तो भले ही शादी कर दो।' और साथ ही विवाह के उस पत्र को फाड़ कर अग्नि की भेंट कर दिया।

१९१३ में जब उन्होंने हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण कर ली और उत्तर-माध्यमिक का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया, तो १९१४ के आरम्भ में उन्होंने

बड़ोदा में एक विद्यार्थी मण्डल की स्थापना की और साथ ही एक पुस्तकालय भी खोला।

१९१६ में एक दिन एक विशेष घटना हुई। माँ ने रसोई बनाते समय देखा कि विनायक कागजों का एक पुलिन्दा जला रहा है, पूछा: 'विन्या, क्या कर रहा है?'

विनोबा ने अत्यन्त साधारण ढंग से कह दिया, 'कुछ नहीं, माँ, अपने प्रमाण-पत्र जला रहा हूँ।'

माँ अत्यधिक आश्चर्यान्वित हुईं और बोलीं, 'मूर्ख मत बन रे! भविष्य में ये सब काम आयेंगे।'

किशोर विनायक ने कहा, 'माँ, जब मैंने कॉलिज छोड़ने का निश्चय ही कर लिया है, तब इनकी आवश्यकता ही क्या है?'

उनका निश्चय दृढ़ हो चुका था, और १९१६ ई० में ही, जब उन्हें मार्च में परीक्षा देने के लिये बम्बई जाना था, सूरत में कुछ मित्रों के साथ गाड़ी से उतर पड़े और बनारस की गाड़ी में सवार हो गये।

शेष मित्रों ने पूछा, 'कहाँ को?'

'ब्रह्म जिज्ञासा में', विनोबा ने संक्षिप्त सा उत्तर दे दिया।

पुण्यधाम काशी पहुँचकर विनोबा संस्कृत के आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करने लगे। अध्ययन कार्य केवल दो ही घण्टे चला करता था, शेष समय साधना में व्यतीत करते और भजन लिखकर पतित-पावनी गंगा में प्रवाहित कर दिया करते थे।

उन दिनों गाँधी जी के भाषण की, जो उन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालय के उद्घाटन के समय दिया था, बहुत चर्चा थी। वहाँ भी बापू जी ने सत्य एवं अहिंसा का सन्देश सुनाया था। विनायक जी को जब इस बात का ज्ञान हुआ, तो उन्होंने गाँधी जी से साबरमती आश्रम के पते पर पत्र व्यवहार आरम्भ कर दिया। बापू विनायक के पत्रों के विचारों से अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्हें पन्द्रह दिन के लिए अपने पास बुला लिया। ७ जून १९१६ को विनायक ने प्रथम बार बापू के दर्शन किए और फिर तो उन्हीं में लीन हो गए—पन्द्रह दिन क्या, अब तो पन्द्रह जन्म पश्चात् भी सम्भवतः साथ नहीं छोड़ सकेंगे।

विनोबा का विचार था कि हिमालय पर जाकर तपस्या की जाए, अब हिमालय से भी ऊँचे शिखर पर चढ़ दरिद्रनारायण के साक्षात् चरणों में ही तपस्या करने का सौभाग्य मिल चुका था।

विनोबा प्रारम्भ से ही श्रम के पक्षपाती रहे हैं—बिना शरीर-श्रम किए भोजन तक करने के पक्ष में नहीं हैं। साबरमती के आश्रम में नित्य-प्रति छह घंटे तक शरीर-श्रम किया करते थे। लगभग चार मास तक साढ़े तीन घंटे नित्य के लिए पौधों को सींचा, छः मास तक रसोई बनाई, और फिर शौचादि की सफाई का कार्य भार अपने कन्धों पर ले लिया। कुछ दिन पश्चात विनोबा को अध्यापन कार्य मिल गया और वह गुजराती विद्यापीठ में, जो आश्रम से ही संलग्न थी, अध्यापन करने लगे।

१९१७ के अन्त में एक वर्ष का अवकाश ले विनोबा महाराष्ट्र का भ्रमण करने निकल पड़े। इस यात्रा का अन्त उन्होंने ठीक एक वर्ष में किया। जब एक वर्ष अपने अन्तिम क्षण गिन रहा था, तब विनोबा ने पुनः आश्रम में प्रवेश किया—बापू समय की इस पाबन्दी से अत्यन्त प्रभावित हुए।

विनोबा की संस्कृत के प्रति रुचि थी ही—प्रज्ञा पाठशाला, वाई, में अपना अधिक समय इसीलिए बिताया करते थे कि आश्रम में उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था, एवं साथ ही वहाँ पण्डित श्री नारायण मराठे से उपनिषदों का अध्ययन किया करते थे। जब वाई की दिनचर्या को विनोबा ने बापू को लिखा था, तब बापू ने कहा था, 'गोरख ने मछन्दर को हराया—भीम है, पूरा भीम।'

उसी समय बापू ने इनका नाम विनायक से बदल कर आधुनिक प्रसिद्ध नाम श्री विनोबा कर दिया।

१९१८ में विनोबा की पूज्य माता जी ने इस नश्वर संसार से मुख मोड़ लिया और अपने विनायक को बिलखता छोड़ गईं।

८ अप्रैल १९२१ ई० को विनोबा को आश्रम की उस शाखा का, जो वर्धा में स्थापित हुई थी, मार्ग दर्शक बना दिया गया। वहाँ से उन्होंने १९२४ में 'महाराष्ट्र धर्म' नामक पत्रिका भी चलाई।

१९२२ में, आश्रम को पर्याप्त उन्नतिशील कर, विनोबा नालवाड़ी चले आये और वहाँ कताई का काम प्रारम्भ करा दिया। १९३५ में वहीं ग्राम-सेवा-मंडल

नाम का एक मण्डल की स्थापना की, जो आज समस्त वर्धा तहसील का प्रबन्ध स्वयं करता है।

१६२३ में सर्वप्रथम विनोबा ने कारावास का मुख देखा था, और तीन मास का दण्ड भोगने के पश्चात् लौट आए थे। उसके पश्चात् १६२४ में त्रावनकोर में हरिजन-मन्दिर-प्रवेश का कार्य बड़ी दक्षता से सम्पन्न किया था।

१६३२ में एक भाषण देने के अपराध में विनोबा को पुनः सींखचों के पीछे भेज दिया गया। यह जेलयात्रा विनोबा जी के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण रही। इसके पश्चात् १६४० में व्यक्तिगत असहयोग आन्दोलन में जब विनोबा को ही सत्याग्रह का उद्घाटन करने के लिए आगे बढ़ाया गया, तो देश ने सर्व प्रथम उनके दर्शन किए। इस सत्याग्रह को उन्होंने कुल मिलाकर तीन बार किया एवं पौने दो वर्ष की सजा भुगती थी।

१६४२ में उन्हें पुनः गिरफ्तार कर वैलूर जेल भेज दिया गया, और ६ जून १६४४ को सिवनी केन्द्रीय कारागार से रिहा कर दिया गया।

सन् १६४८ ई० की ३० जनवरी की दुखद घटना के पश्चात् इस सन्त ने उस सन्त का स्थान ग्रहण कर लिया और उस के अधूरे कार्यों को सम्पूर्ण करने का व्रत लिया, जिसे वह आज भी पूरा कर रहे हैं।

१५ अप्रैल १६५१ का ऐतिहासिक दिवस विनोबा के इतिहास में लाल अक्षरों से लिखा जाएगा। उसी दिन आचार्य विनोबा भावे ने दण्डकारण्य में प्रवेश किया था, और उसके चार दिन पश्चात् ही १८ अप्रैल को इस महासन्त का महायज्ञ प्रारम्भ हुआ।

उस दिन विनोबा जी हैदराबाद प्रान्त के नलगुण्डा जिले में स्थित पोचम-पल्ली ग्राम में प्रवचन कर रहे थे। एक हरिजन मुखिया ने अपनी आवश्यकता उनके सामने रखी, 'न पूरा काम है एवं इसलिए ही और कोई चीज भी पूरी नहीं है।'

पहले तो इस विचार को सरकार के सम्मुख प्रस्तुत करने की बात सोची गई, जिससे सम्भवतः सरकार को कानूनन भूमि अपहरण करना पड़ता, किन्तु बाद में विनोबा ने सोचा, क्यों न गाँव वालों से ही इस समस्या का हल कराया जाए? और इस प्रकार विनोबा जी ने वहाँ भूदान करने की बात चलाई। तब

ही विनोबा की भावनाओं से प्रेरित होकर श्री रामचन्द्र रेड्डी ने तुरन्त ही एक सौ एकड़ भूमि की आहुति देकर भूदान-यज्ञ की ज्वालाओं को प्रज्वलित कर दिया। फिर क्या था? नगर-नगर, डगर-डगर पैदल चलकर विनोबा ने भूदान का अलख जगाने का निश्चय किया, और आने वाले पाँच वर्षों में पाँच करोड़ एकड़ भूमि माँगने की योजना बनाई। भारत कृषि-प्रधान देश है—यहाँ तीस करोड़ एकड़ भूमि में कृषि होती है। बहुत सी भूमि बेकार एवं बंजर पड़ी है जिसका उपयोग किया जा सकता है, अतः विनोबा जी ने अपनी पैदल यात्रा प्रारम्भ कर दी। अब तक विनोबा जी इक्कीस प्रदेशों का दौरा कर चुके हैं, और लगभग पैंतीस लाख एकड़ भूमि का दान पा चुके हैं।

आचार्य विनोबा केवल भूदान ही नहीं, जीवन-दान, खाद-दान, हल-दान, आदि सभी प्रकार के दान माँग रहे हैं। इन दानों के प्रति अमेरिका एवं रूस जैसे समृद्धिशाली राष्ट्रों को अधिक संशय है, किन्तु धीरे-धीरे यह सन्देह भी दूर हो जाएगा और उन्हें यह मानना पड़ेगा कि भारत की संस्कृति जैसी प्राचीन समय में थी, अर्वाचीन काल में उससे भी कहीं अधिक बढ़ी चढ़ी है। यह तो विनोबा की केवल पाँच वर्ष की योजना ही है, इसके पश्चात् और भी योजनाएँ बनेंगी, और जब तक सम्पूर्ण राष्ट्र में समता का सागर नहीं लहरा उठेगा, यह कार्य अबाध गति से चलता रहेगा।

पर्वत-पुत्र शेरपा



तेनजिंग नोर्के

न भी मर्त्य समान ही है, जो संघर्ष से दूर अपने जीवन रथ को
था से खींचे जा रहा है। उन सांसों से क्या लाभ, जिन्हें नित्य
ों का सामना नहीं करना पड़ता, एवं आनन्दपूर्वक, जो भी इच्छा
कर लेता है। यदि किसी और कठोर वाक्य में यह बात
उसे इस प्रकार भी बताया जा सकता है, 'उस जीवन को
श्रेयस्कर होगा, जिसमें निष्प्रयास ही समस्त सुख प्राप्त हो
कभी विघ्न से युद्ध नहीं करना पड़ता।'

१९५३ को समस्त संसार के समाचार पत्रों में केवल एक ही
क ही आकर्षण था—'एवरेस्ट का उन्नत शिखर विजय कर लिया
इन तक अनेक बार प्रयत्न किया गया था कि इस धरती के
र मानव चरण चूमें, किन्तु अनेक जीवन अपनी इहलीला वहीं

समाप्त कर बढ़, अनेक अपने अङ्गों का गला कर वापिस लौट आये। दुनियाँ के प्रायः सभी भागों के लोगों ने इसका प्रयास किया, किन्तु वे असफल रहे, पृथ्वी की इस उच्चतम, सुन्दरतम और सुखद गोद में खेलने में! अपने उन्हीं लाडले शिशुओं को, जिन्होंने अपना सारा जीवन केवल उसकी गोद तक, कई बार झिड़के जाने पर, दुत्कारे जाने पर, पहुँचने का प्रयास करने में लगा दिया था, अन्त में उस स्नेहमयी, वात्सल्यसिक्त माँ को गले लगाना ही पड़ा। माँ के वह भाग्यशाली पुत्र थे—पर्वत-पुत्र, श्री हिलेरी हंट एवं श्री तेनज़िंग नोर्के।

ये दोनों नाम अभी भी हमारी स्मृति में ताजे हैं, एवं सदा के लिये ताजे ही रहेंगे, क्योंकि इन दो महापुरुषों द्वारा सम्पन्न हुआ कार्य, किसी एक राष्ट्र अथवा महाद्वीप के लिये गौरवनीय नहीं था, अपितु समस्त मानव समाज के लिये गौरवपूर्ण था।

नेपाल के सोलोखुम्बु नामक छोटे से गाँव के एक समृद्ध परिवार में श्री तेनजिंग ने जन्म लिया था। उनके पिता के पास बहुत सी सुरागाय (याक) थीं और बालक तेनज़िंग को उन्हें चराने का काम था एवं साथ ही उसका मन भी केवल याक चराने में इसीलिये लगता था कि उसे वहाँ प्रकृति की रमणीयता के दर्शन होते थे, धवल पहाड़ियों के आँचल में उसे असीम आनन्द प्राप्त होता था—वह उन्हीं को अपना आदर्श बनाना चाहता था। उन्हीं प्रस्तर खण्डों के समान वह भी कठिनाइयों का मौन मुकाबिला करना चाहता था और चाहता था, डटा रहना अपने ध्येय के मार्ग पर। उन्हीं की भाँति स्वच्छन्द रह आपदाओं की गोद में खेलने में ही उसे जीवन की सार्थकता दृष्टिगोचर होती थी—इसी प्रकार बीत गये उसके अल्प शैशव के दिवस।

तेनज़िंग का बचपन का नाम था, नामग्यालवांगडी। इस नाम को नेपाल के एक लामा ने उनके पिता से बदल देने के लिये कहा, अतः उसी लामा के मतानुसार उनको नया नाम मिल गया, तेनज़िंग नोर्के; जिसका शाब्दिक अर्थ है समृद्ध धार्मिक।

जब तेनज़िंग कुछ बड़े हुए, तो घर की छोटी सी चहारदीवारी उन्हें अच्छी नहीं लगी—स्वतन्त्रता से मुक्त, प्राण विहग को उड़ाये फिरना उन्हें रुचिकर लगा। अवारगी के जीवन में बन्धन से अधिक दुःख तो है, किन्तु

फिर भी ऐसा नहीं मनुष्य जानते हुए भी इसकी ओर क्यों भागते हैं ? अतः वह पहले-पहल घर से फरार होकर काठमांडू आये, और उसके पश्चात कुछ समय दार्जिलिंग में भी रहे। कुछ वर्ष इसी प्रकार इधर-उधर, छोटी-मोटी नौकरियाँ, कुलीगिरी आदि करने में गुजारे। उधर उनके घर वालों को उनका कोई समाचार नहीं मिला, और अन्त में उन्होंने उन्हें मृत समझ अन्तिम संस्कार कर देना ही ठीक समझा।

उस समय तेनजिंग दार्जिलिंग में रह रहे थे, तब नेपाल और भारत एक ही सरकार के आधीन थे, अतः लोग नित्य-प्रति आया जाया करते थे। एक दिन सोलोखुम्बु का भी एक कारवाँ दार्जिलिंग आया। सौभाग्य से उनकी भेंट तेनजिंग से हो गई। उन्होंने उनके माता-पिता का हाल बताया और साथ ही यह भी कहा कि वे उन्हें मृत समझ कर उनका अन्तिम संस्कार करने जा रहे हैं, तो तेनजिंग इस बात से खिन्न हो, अधिक से अधिक शीघ्रता कर, अपने घर पहुँचे और बिलकुल उपयुक्त समय पर वातावरण का रस एकदम परिवर्तित कर दिया।

१९३५ के आरम्भ में तेनजिंग ने एक पर्वतारोही दल के साथ कुली बनकर जाने की बहुत चेष्टा की, किन्तु उस दल के नेता ने उन्हें इस कठिन कार्य के योग्य न समझ, ले जाने से इनकार कर दिया। किन्तु यही वर्ष उनके लिये सफलता के द्वार खोलने आया था।

इसी वर्ष दावा फुती से तेनजिंग का गठबन्धन सम्पन्न हुआ, और उसके शुभागमन के साथ ही सौभाग्य भी उनके घर में मनोयोगपूर्वक आ गया। उसी वर्ष ईरिक शिप्टन महोदय एक दल ले, चोमोलुंगमा (एवरेस्ट अथवा कैलाश) की अभियान यात्रा कर रहे थे। उन्हें अपने साथ शेरपा कुलियों की सदैव ही आवश्यकता रहती थी। जब तेनजिंग भी उन कुलियों की पंक्ति में पहुँचे, तो 'हिमालयन क्लब' के सेक्रेटरी श्री डब्ल्यू० जे० किड एवं दल के नेता कुलियों की नियुक्ति में संलग्न थे। ग्रीष्मकालीन मध्याह्न की धूप भी वहाँ कुछ विशेष प्रखर नहीं थी। सभी शेरपाओं के परिश्रमी मुख तमतमा रहे थे, उन कुलियों का सरदार था कर्मापाल। अतः केवल वे ही कुली छाँटे जा रहे थे जो

पूर्व प्रमाण पत्रों के साथ थे अथवा तो कर्नल का सिफारिश प्राप्त कर रहे थे। इन दोनों प्राथमिकताओं में हमारे नायक के पास कुछ भी नहीं था; स्वभावतः वहाँ से निराश हो लौट जाना ही उचित समझा जाता था। तब ही घोषणा की गई कि अभी दो कुली और चाहिए। नई खाकी बुशशर्ट और हाफ पैन्ट में श्री तेनजिंग भी अकड़ कर खड़े हो गये, बीस उम्मीदवारों की पंक्ति में। जब उनके भाग्य-निर्माता उन तक पहुँचे, तो उन्होंने भी यही प्रश्न किया कि क्या उनके पास पूर्व प्रमाण-पत्र है? वह इक्कीस वर्षीय नवयुवक, तेनजिंग, धड़कते हृदय से उन्हें बताना चाह रहा था कि वह उन सबसे अधिक योग्य है, परिश्रमी है, किन्तु भाषा के अभाव में दोनों ही बातें वह नहीं बता सका. केवल संकेतों से वह यही समझा सका कि उसके पास कोई प्रमाण-पत्र नहीं है। उन्हें पंक्ति से अलग कर खड़ा कर दिया गया। कुछ देर उदास मुँह लिये खड़े रहने के पश्चात् उन्होंने जब एक अन्य शेरपा को भी उसी प्रकार बाहर निकलते देखा, तो वह हताश हृदय लिये चलने लगे, किन्तु तबही उन्हें पुकारा गया और बताया गया 'वह कुली नियुक्त कर लिया गया है।' हर्ष से वह उत्फुल्ल हो उठे।

तिब्बत के मार्ग से वह दल आगे बढ़ा, और कैम्प नम्बर तीन के निकट इस अभियान दल को मौरिस विल्सन का शव एक खेमे में बर्फीली हवाओं के तमाचों से जर्जरित हुआ मिला। मौरिस विल्सन अकेले ही, तीन तिब्बती शेरपाओं की सहायता से, गुप्त रूप से एवरेस्ट अभियान कर रहे थे। सम्भवतः अन्त समय बर्फ में जमे जूते को निकालने का वह प्रयास कर रहे थे और उसी अवस्था में एक वर्ष पूर्व उन्होंने अन्तिम सांस ली होगी—इतनी दूर, प्रिय हिम के मध्य निर्जन में, जहाँ कोई उनके लिए आँसू बहाने वाला नहीं था कोई स्नेही नहीं था, होंगे केवल तूफानी हवाओं के बर्फीले झोंके, और वह भी मृत्यु की विकराल छाया के रूप में। उनका शव पत्थरों के बीच दफना, उनकी आत्मा की शान्ति की प्रार्थना कर, उन लोगों ने आगे प्रस्थान किया। इस बार वह दल २२,००० फीट तक ही गया, क्योंकि तूफानी हवाओं के कारण आगे बढ़ना एकदम दुष्कर सा हो गया था। लौटने के इस प्रस्ताव से सबसे अधिक दुखित तेनजिंग हुए, क्योंकि उन्हें पैसों का लोभ तो था नहीं, वह

ना चाहते थे हिमालय की सर्वोत्तम एवं गर्वोन्नत गोद में क्षण भर की क्रीडा।

दार्जिलिंग पहुँच कर तेनजिंग कुछ दिन अपनी पत्नी के साथ रहे, और तब ही उनका सर्व प्रथम पुत्र निमादोर्जे घर की खुशियों को बढ़ाने आया।

१९३६ की बसन्त ऋतु में आपको श्री ह्यू रजलेज के दल का कुली बनने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इस दल के लगभग सब ही सदस्य ख्याति-प्राप्त पर्वतारोही थे। स्वयं नेता भी कई शिखरों को विजयी कर चुका था। किन्तु इस समय वह काफी वृद्ध था, तथापि उसका उत्साह किसी नवयुवक पर्वतारोही से कुछ कम नहीं था। वह शेरपाओं को अपनी सन्तान के समान ही समझता था। उस बार प्रकृति देवी कुछ रुष्ट प्रतीत होती थी—सारे रास्ते भर बर्फ गिरती रही, किन्तु फिर भी साहस रख वह दल स्तम्भ तक पहुँच ही गया। आगे जाना असम्भव हो गया था, तब श्री रजलेज ने कहा था, 'अब आगे जाना अत्यन्त कठिन है, किन्तु कुछ व्यक्ति फिर भी आगे बढ़ने की हठ कर रहे हैं, जिनमें तेनजिंग शेरपा भी है। किन्तु नहीं, मैं नहीं चाहता कि इस दल का कोई व्यक्ति व्यर्थ में ही प्राण गँवाये। एवरेस्ट अगले वर्ष भी यहीं स्थिर रहेगी।' आगे का अभियान रुक गया और दल लौट पड़ा।

एवरेस्ट विजय का सप्तम असफल प्रयास हुआ १९३८ में। उस अभियान को करने वाला दल श्री टिलमैन का था। इसी दल के कारण शेरपाओं को अधिकतम ऊँचाई तक जाने के लिए 'टाइगर पदक' मिलने प्रारम्भ हुए थे। इसी दल के साथ प्रस्थान करते समय तेनजिंग नोर्के की 'बेस कैम्प' में अपने पिता से अन्तिम भेंट हुई थी, क्योंकि उनका स्वर्गवास अगले ही वर्ष हो गया। दल उत्तरी स्तम्भ की ओर बढ़ा। वह व्यक्ति रस्से के सहारे आगे बढ़े, किन्तु दुर्भाग्य से कोई चट्टान टूटी, एवं बर्फ फिसलने लगा। दल के सदस्य भी सन्तुलित नहीं रह सके और लुढ़कने लगे। श्री तेनजिंग का सिर बर्फ में फँस गया, किन्तु धैर्य का साथ नहीं छोड़ा और बर्फ काटने की कुल्हाड़ी चारों ओर घुमाने लगे। भाग्यवश वह कुल्हाड़ी चट्टान से जा टकराई और तेनजिंग उस पर अड़कर स्थिर हो गये। तब ही बर्फ का फिसलना भी रुक गया। उसके दस फुट नीचे ही एक गहरा दर्रा था, यदि उनसे वहाँ नहीं रुका जाता तो आज

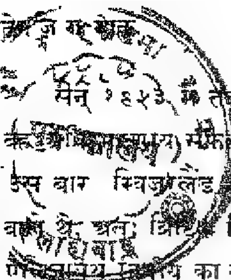
तेनजिंग को कोई नहीं जानता। वह दल भी २७,२०० फीट की ऊँचाई से लौट आया, जहाँ उन्होंने अपना कैम्प नम्बर छह बनाया था। नीचे घाटी में वापस आने पर टिलमैन ने तेनजिंग को 'टाइगर पदक' भेंट किया।

इसी वर्ष तेनजिंग का घर कन्या जन्म से पुनः खुशी के सागर में डूब गया। कन्या का नाम पेम-पेम रखा गया, किन्तु दुर्भाग्यवश अपने प्रिय पुत्र की मृत्यु का विशद दुख सहन करना पड़ा, उस पुत्र की मृत्यु का, जिसे वह अपने समय के महान् पर्वतारोही के रूप में देखना चाहते थे। यह घटना १९३९ की है। १९४० में पुनः तेनजिंग को एक और लड़की का पिता बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, किन्तु १९४४ में श्रीमती दावा फुती उनका साथ छोड़कर इस नश्वर संसार से किनारा कर गईं, छोड़ गईं बिलखता, अपने पति एवं दो पुत्रियों को।

अब उनके सम्मुख बच्चों के पोषण का प्रश्न था, अतः कुछ लोगों ने सलाह दी कि वह दूसरा विवाह करलें, किन्तु यह उसी वक्त सम्भव था जबकि कोई ऐसी स्त्री मिल जाती, जो उन शिशुओं को अपना ही समझती। सौभाग्यवश तेनजिंग की भेंट आंग लहमू से हुई—और यह भेंट जीवन का एक पृष्ठ बनकर रह गई। आंग लहमू ने शिशुओं का पालन-पोषण करना सहर्ष स्वीकार कर लिया था।

१९४७ के आरम्भ में एक कैनेडियन युवक अर्लडेमन, जो अफ्रीका से दार्जिलिंग ऐवरेस्ट अभियान करने के लिये आया था, तेनजिंग से मिला। वह युवक अत्यन्त साहसी था, किन्तु उसे ऐवरेस्ट पर चढ़ने की आज्ञा नहीं मिल पाई थी, अतः वह बहुत कम सामान के साथ गुप्त रूप से ऐवरेस्ट अभियान करना चाहता था। तेनजिंग की जीवन साध थी ऐवरेस्ट विजय; उन्होंने युवक अर्लडेमन का साथ दिया। किन्तु स्तम्भ के निकट से मौसम अनुकूल न होने के कारण, असफल लौट आना पड़ा। फिर भी उस बार तेनजिंग को पूर्ण सन्तोष प्राप्त हुआ।

१९५२ में प्रथम बार एक अब्रिटिशीय दल ऐवरेस्ट विजय के लिए बढ़ा, किन्तु उसे भी २८,२५० फीट की ऊँचाई से लौट आना पड़ा।



सन् १९५३ [illegible] तब कहा पूरे ४३ वर्ष के परिश्रम के पश्चात् मानव को [illegible] सफलता मिली, जिसका नाद सब ओर प्रस्फुटित हो उठा। उस बार स्विट्ज़रलैंड और फ्रांस के दल भी ऐवरेस्ट विजय के लिये निकलने वाले थे, अतः [illegible] निवासियों ने प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ करदी। उधर महारानी [illegible] का राज्याभिषेक भी होना था। तब स्वयं दल के नेता सर जॉन हंट ने एक बार कहा था, 'काश ! महारानी के अभिषेक के उत्सव के पूर्व ऐवरेस्ट विजय हो जाये।' उस बार शेरपा कुलियों का सरदार तेनज़िंग नोर्के को चुना गया था।

दक्षिणी स्तम्भ के निकट अन्तिम कैम्प नम्बर सात सब लोगों के साथ इकट्ठा ही लगा था। प्रकृति साथ दे रही थी। बोर्डिलन एवं इवान्स, तथा तेनजिंग एवं हिलेरी की दो टुकड़ियाँ बनाई गईं। उन टुकड़ियों के विषय में बड़ा मतभेद है कि कौन सी टुकड़ी प्रथम थी। तेनजिंग ने अपनी पुस्तक 'मैन ऑव हिमालय' में इस बात को कुछ गोल-माल सा कर दिया है, किन्तु श्री हंट की 'द ऐसेन्ट ऑव ऐवरेस्ट' में बहुत साहस से प्रथम टुकड़ी बोर्डिलन की बताई गई है। बात भी कुछ ठीक सी ही है, और श्री तेनजिंग नोर्के के कथन का सार भी कुछ ऐसा ही है। खैर प्रयास करने न करने की बात तो वे ही जानें, ईश्वर जाने, किन्तु श्री हिलेरी और तेनजिंग भी आगे बढ़े और एक दूसरे की सहायता के कारण निरन्तर आगे बढ़ते चले गये। कैम्प नम्बर नौ, जो कर्नल हंट ने उन दोनों के लिये बनाया था, उनका अन्तिम कैम्प था। उसके पश्चात २९ मई की ऊषा में वे लोग जागे, एवं बड़ी कठिनाई से हिलेरी के बर्फ से सख्त हुए जूते पहनने योग्य बना, साढ़े आठ बजे कैलाश (ऐवरेस्ट) की ओर बढ़े। कैलाश कुछ सौ फीट ही ऊपर था, किन्तु बीच में बड़े बड़े विघ्न थे, बाधाएँ थीं किन्तु क्या कभी दृढ़ निश्चय एवं अटूट साहस के सामने कोई विघ्न-बाधा रुक सकी है ? एक-दूसरे का साहस एवं ढाढस या वे दोनों क्रमशः हिमालय के सर्वोच्च मस्तक पर पहुँच ही गये, और वहाँ एक साथ चार ध्वज, संयुक्त राष्ट्र संघ, संयुक्त राज्य, नेपाल एवं भारत के क्रमशः लहरा उठे। हिलेरी ने कर्नल हंट द्वारा दी हुई कपड़े की एक बिल्ली और तेनजिंग ने लाल-नीली पैंसिल का एक टुकड़ा, जो उसकी लड़की ने चलते समय शिखर पर रखने के लिये

दिया था रख दिया उसके पूर्व श्री हिलेरी ने श्री नोर्के के तीन चित्र से लिए और फिर प्रकृति नटी के अनेक सुन्दर सुन्दर चित्रों की छवि अंकित कर लिया।

कई सिरफिरों ने ऐवरेस्ट विजय के प्रति अविश्वास प्रकट किया, तेनजिंग और हिलेरी के विजय अभियान को झूठा बताया। यह कोई विद्यार्थी की पेंसिल चुराने की साधारण घटना नहीं है। यह तो समस्त मानवता से सबसे बड़ा विश्वासघात है क्योंकि यदि वे सिरफिरे कल को कहने लगें कि हमारे सम्मुख कुछ नहीं हुआ इसलिये हमें विश्वास नहीं, तो इस हिसाब से सारा इतिहास बेकार सिद्ध हो जायेगा।



शास्त्रीय संगीत के उन्नायक

विष्णु दिगम्बर पलुस्कर

नेन्द्रिय की हानि अभिशाप नहीं तो और क्या है ? किन्तु कभी-कभी कोई अभिशाप वरदान सिद्ध हो जाया करता है, केवल व्यक्ति-विशेष नहीं, अपितु समस्त राष्ट्र के हेतु, समस्त विश्व के हेतु। ऐसी ही । कुरुंदवाड़ रियासत में लगभग सात दशाब्दि पूर्व हुई थी, रण भारत का शास्त्रीय संगीत पुनर्जीवन प्राप्त कर सका, अन्यथा जा सकता कि इस महान् ललित कला की ओर से कब तक हम : करवट बदले पड़े रहते।

किसी को भी सन्देह नहीं कि संगीत के स्वरों से भीरु, वीर, महात्मा, क्षण भर ही में बन जाते हैं। प्रागैतिहासिक घटनाओं में श्री वाल्मीकि के मानस परिवर्तन का उदाहरण इसके लिए वैसे तो इस उदाहरण की आवश्यकता नहीं है ; सभी समझते हैं- नते हैं, और सभी ही नित्य जीवन में अनुभव भी करते हैं।

सम्भवतः इसी विचार से प्रेरित होकर ही वेदों की ऋचाओं की रचना संगीतपूर्ण हुई। भारतीय संस्कृति में 'ओ३म्' का निर्माण हुआ, जिसमें संगीत का प्रत्येक स्वर निहित है।

विक्रमादित्य और तानसेन के रागों का चमत्कार आज कथा मात्र ही रह गया है, किन्तु अभी गत दिनों में पंडित ओंकारनाथ ठाकुर ने जब राग मल्हार गाकर वर्षा करवादी थी, तो सारा संसार आँखें फाड़ कर रह गया था। यह केवल कहानी नहीं, आँखों देखा सत्य है। जानते हो ऐसे चमत्कारिक पंडित ओंकारनाथ ठाकुर ने संगीत की शिक्षा किन से पाई थी? किसकी कृपा से इनके स्वरों में इतनी मधुरता आई, एवं राष्ट्र-गायक की श्रेणी को पा सके? वह थे, शास्त्रीय संगीत के उद्धारक, उसे पराधीनतावश भूल जाने वाले भारतीयों को पुनः स्मरण दिलाने वाले, श्री विष्णु दिगम्बर पलुस्कर।

पूजनीय विष्णु दिगम्बर पलुस्कर का जन्म कुरुन्दवाड़ रियासत के एक अति दीन एवं दरिद्र ब्राह्मण श्री दिगम्बर पलुस्कर की कुटी में १८ अगस्त, १८७२ ई० को हुआ था। पिता वंशगत कीर्तनकार थे; जो कुछ अति न्यून प्राप्त होता, उससे ही किसी प्रकार निर्वाह करते; किन्तु सन्तोषी प्रकृति के होने के कारण कष्ट का अनुभव अधिक नहीं होता था। स्वयं तो किसी प्रकार निर्वाह करते थे, किन्तु उनकी एकमात्र सन्तान भी उसी प्रकार कष्टमय जीवन व्यतीत करे, यह उन्हें अभीष्ट नहीं था। अतः विष्णु पलुस्कर को तत्कालीन बाबूगिरी की शिक्षा प्रणाली के साँचे में ढाला जाने लगा, ताकि बालक बड़ा हो नौकरी कर, परिवार का पालन-पोषण करे।

'नर चाही होती नहीं, हर चाही तत्काल'; प्रभु ने उस पुण्यात्मा को केवल कुछ जनों का भरण-पोषण करने के लिए तो इस शस्य श्यामला पर अवतरित नहीं किया था। उसका तो क्षेत्र अलग था, उसे अन्य कार्य ही करने थे। एक दिवस, दीपावलि श्रृंगार किये शत्-शत् मुक्तामणियों से प्रतीत होने वाले दीपों के आभूषण धारे, मानव मात्र को हर्षित कर रही थी, आह्लादित कर रही थी, आबाल वृद्ध नर-नारी हर्षमस्त थे, सब चेहरे चिन्ता-हीन हो आन्दोलन मना रहे थे, 'आगामी वर्ष सुखकर हो' इसकी उत्सुकताहिनी

लक्ष्मी से प्रार्थना कर रहे थे। लगता है लक्ष्मी सब ही की प्रार्थना स्वीकार कर रही थी। उसी अवसर पर ईर्ष्यालु लक्ष्मी की कुदृष्टि इस शारद पुत्र पर पड़ी और वे क्रोधित हो उठीं, अथवा शारदा एवं लक्ष्मी एकरूपा होने के कारण, शारदा के हितार्थ यह कार्य कर बैठीं, यह तो वे ही जानें; किन्तु यह सौभाग्यपूर्ण घटना हो ही गई।

बालक आतिशबाजी चला रहे थे। फुलझड़ियाँ अपनी चिनगारियाँ फेंक बालकों को सुखी कर रही थीं, अथवा इसे इस प्रकार कह दें कि बालक अपनी सच्छानुसार उनके जलन कष्ट को देख, स्वयं हर्षित हो रहे थे। तब ही कुछ चिनगारियाँ उड़ीं और आनन्द मनाते बालक विष्णु दिगम्बर के नैनों में घुस गईं। सारे परिवार में हाय-तोबा मच गई। उसी समय उपचार आरम्भ हुए, किन्तु केवल आँखें ही बच सकीं—अधिक ज्योति प्राप्त नहीं कर सकी।

विद्यालय के शुष्क पाठों में अनमने हो मस्तिष्क खपाना अब सम्भव नहीं रहा। अतः पिता दिगम्बर ने अपने पुत्र को विद्याध्ययन से हटा, अपने युग के संगीत कला के धुरंधर विद्वान पंडित बालकृष्ण बुआ इचलकर के चरणों में समर्पित कर दिया। उस सुयोग्य एवं सर्वथा अनुभवी अध्यापक की देख-रेख में बालक ने सरस्वती का वरद् हस्त लाभ किया, एवं साधना-हवन में जीवन की आहुति दे डाली। गुरुदेव ने भी योग्य शिष्य पा शिक्षा-दान करने में कोई कोर-कसर नहीं रखी। शीघ्र ही बारह-बारह घंटे की सतत् साधना कर हस्सूहद्दखाँ के ग्वालियर घराने की गायिकी को कण्ठ में साध लिया। वर्षों में साधना पूर्ण हुई। जब गुरु शिष्य दोनों को सन्तोष हो गया, तो शिष्य आशीर्वाद लेकर चल पड़ा।

कर्मक्षेत्र आह्वान कर रहा था, समस्त देश का प्रांगण बुला रहा था; कर्मठ कार्यकर्त्ता ने घर से बाहर पैर रखा और मातेश्वरी शारदा का स्मरण कर आगे चरण बढ़ा दिये। महाराष्ट्र के दौरे से छुट्टी पा देश के लोगों को अपने मधुर कण्ठ एवं स्वर लहरी से सम्मोहित किया। दौरा करते-करते जब वह गिरिनार पहुँचे तो सौराष्ट्र के एक प्रसिद्ध साधु ने दिव्य दृष्टि से उन्हें सुझाया कि उत्तर-भारत ही उनके योग्य कर्मक्षेत्र है। अतः देशाटन करते हुए पंडित विष्णु

दिगम्बर पलुस्कर लाहौर जा जमे, और उसी मरुस्थल को अपना कर्म-केन्द्र बना डाला।

५ मई, १९०१ को पंजाब उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री प्रतुलचन्द्र चट्टोपाध्याय के कर कमलों द्वारा बड़ी धूम-धाम के साथ, तत्कालीन भारत के पेरिस—लाहौर—में, गांधर्व महाविद्यालय की प्रथम शाखा का उद्घाटन सन्ध्या के धूमिल पलों में हुआ। लाहौर के सभी धनी-मानी और स्वनामधन्य सज्जन वहाँ विद्यमान थे। श्री चटर्जी महोदय ने संगीत की आवश्यकता एवं महत्ता आदि पर अच्छा प्रकाश डाला। नवोदित कलाकार दिगम्बर जी के भजनों से सभी झूम-झूम उठे, एवं सब ने विद्यालय को उचित सहायता करने का निश्चय किया। उत्सव समाप्त हुआ, सभी विदा हो गये, और भविष्य की मधुर कल्पनाएँ करते बैठे रहे केवल श्री विष्णु पलुस्कर जी।

"क्यों, पंडित जी, क्या आज छुट्टी कर रखी है?" उद्घाटन के एक मास पश्चात् गांधर्व महाविद्यालय के प्रधानाध्यापक कक्ष में प्रवेश करते हुए एक मात्र श्री पलुस्कर जी को वीणा पर अभ्यास करते हुए देख, श्री चटर्जी महाशय ने प्रश्न किया।

एक लम्बी-ठंडी साँस छोड़कर श्रम एवं तपस्यारत कर्मठ व्यक्ति ने उत्तर दिया, "ऐसा अवकाश तो यहाँ नित्य ही रहता है।"

चटर्जी महोदय को अत्यन्त क्षोभ हुआ, किन्तु बेचारे असमर्थ थे, कर भी क्या सकते थे? दो-चार सहानुभूतिपूर्ण वाक्य कह, ढाढ़स बंधा, वापस चले गये।

वह भारतीय ललित-कलाओं के पराभव का समय था। मुगल-कालीन कलाकारों द्वारा कला का दुरुपयोग होने के कारण वे कलाएँ मानो स्वयं रूठ गई थीं। आज गायकों को, संगीतज्ञों को, नृत्यकारों को राष्ट्रपति द्वारा देश का सर्वोच्च सम्मान प्राप्त होता है, कलाकारों का आदर होता है, उनकी जीवनियाँ एवं चित्र पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते हैं, किन्तु उन दिनों नाचना गाना वेश्याओं एवं मीरासियों की थाती समझी जाती थी। शरीफ घराने के लोग तो इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि वे गायक अथवा नर्तक बन सकते हैं। यदि कोई 'सिरफिरा' इसे देखने अथवा सुनने का—

सीखने की इच्छा मात्र भी प्रकट करना तो दूर रहा नाम भी घर में ले लेते, तो नाक ही कट पड़ती थी। समझा जाता था कि औलाद बिगड़ गई है, और उसे 'आवारा', 'बदमाश' आदि उपाधियाँ तो निःशुल्क एवं निष्प्रयास ही प्राप्त हो जाती थीं; और फिर सब की उँगलियों का संकेत केन्द्र होना स्वाभाविक ही था।

ऐसी रेगिस्तानी भूमि को उर्वरा बनाने का कठोर एवं दुस्साध्य कार्य अपने कंधों पर लिया था श्री विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने। सूरदास, मीरा, कबीर एवं तुलसी के भजनों को उन्होंने साधा और सब को कीर्तन शिक्षा दी। धीरे-धीरे हल आगे बढ़ने लगा, जल से रेगिस्तान उर्वर हुआ; और लोग 'संगीत साहित्य कला विहीनः, साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीनः' की सार्थकता को समझने लगे। अनेक विघ्न-टीले आये, किन्तु सभी को रौंद दिया उस साहसी कृषक ने। लोग उन पर हँसे, और वह मन-ही-मन उनकी क्षुद्र बुद्धि पर तरस खा कर रह गये।

तीन वर्ष में ही कई योग्य शिष्य तैयार हो गये। १९०८ में इनके सबल कंधों पर उत्तर का भार छोड़ वह बम्बई पहुँच गये, और वहाँ गांधर्व महाविद्यालय की द्वितीय शाखा का प्रादुर्भाव किया। यहीं से गांधर्व महाविद्यालय का प्रसार हुआ और भारत के प्रमुख नगर में इसकी शाखाएँ खुल चुकी हैं। फिर तो बाद में राजाओं और नवाबों का सहयोग भी पर्याप्त प्राप्त हुआ।

बड़े-बड़े कलाकारों की कला का आनन्द पहले वे ही लोग भोग पाते थे, जो बहुत धन व्यय कर उन्हें आमंत्रित कर महफिल जमवा सकने की सामर्थ्य रखते थे। किन्तु कला तो जन-साधारण में ही उचित विस्तार प्राप्त कर सकती है, अतः इस उद्देश्य को सामने रख पलुस्कर जी ने अपने विद्यालय का कम-से-कम उचित शुल्क रख, इस आनन्द को सर्व-सुलभ कर दिया। विष्णु पलुस्कर ने अनेक स्थानों पर संगीत कार्यक्रमों का आयोजन किया और संगीत को लोकप्रिय बनाने के सतत् प्रयास किये।

श्री विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने केवल साधना ही नहीं की, वरन् संगीत पर अनेक उपकार भी किये हैं। अभी तक संगीत की शिक्षा दी अवश्य जाती थी,

किन्तु स्वरलिपि कण्ठस्थ करना पड़ता था और इसमें प्रत्येक के लिए ध्यान पर अङ्कित करना कठिन था । अतः उन्होंने स्वरलिपि लिखने की साधारण एवं सुन्दर रीति का आविष्कार किया, जिसके कारण आज भारत के घर-घर में सदा-सदा के लिए संगीत अमर होने के साथ व्याप्त भी होगया है और इसे अध्यापन का अनिवार्य अङ्ग बना दिया गया है ।

महर्षि विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने संगीत पर लगभग पचास पुस्तकों की रचना की जिनमें 'संगीत बाल प्रकाश', 'महिला संगीत', 'संगीत बाल बोध', 'राग प्रवेश', 'राष्ट्रीय संगीत', 'व्यायाम के साथ संगीत', आदि अत्यधिक ख्याति प्राप्त हैं । इन पुस्तकों की सहायता से संगीत शिक्षण आज भी सुलभता प्राप्त कर रहा है । साथ ही पलुस्कर जी ने 'संगीतामृत प्रवाह' नामक एक मासिक पत्रिका का संचालन एवं सम्पादन भी किया । उनके योग्य एवं अनुभवपूर्ण सम्पादन ने संगीत शिक्षार्थियों को बहुत सुन्दर मार्ग प्रदर्शित किया । अखिल भारतीय कांग्रेस के राष्ट्रीय गान 'वन्दे मातरम्' की ध्वनि भी उन्होंने ही बनाई थी । इसके अतिरिक्त कांग्रेस के अधिवेशनों में वह स्वयं ही इस राष्ट्रीय गीत का गायन किया करते थे, एवं इन अधिवेशनों के साथ-साथ 'राष्ट्रीय संगीत परिषद्' का—जिसके जन्मदाता श्री पलुस्कर जी ही थे—आयोजन भी होता रहा ।

इन कार्यों से विदेशी सरकार को उन पर भी सन्देह होगया जिसके फलस्वरूप उन्हें भी जेलयात्रा कर, उसके कोप का भाजन बनना पड़ा ।

जब महात्मा गाँधी जी ने साबरमती आश्रम के लोगों को संगीत सिखाने का अनुरोध किया, तब पलुस्कर जी ने अपने प्रिय शिष्य पण्डित नारायण राव खरे को वहाँ भेज दिया और संगीत की शिक्षा का भार उसे ही सौंप दिया ।

विष्णु पलुस्कर जी ने अपने जीवन के अन्तिम दिन नासिक में व्यतीत किये और 'श्री रामनाम आधार आश्रम' की स्थापना भी तभी की । परिश्रम के कारण उन का स्वास्थ्य बिगड़ता चला गया । अन्त में २१ अगस्त, १९३१ को रामधुन गाते हुए अपने एकमात्र पुत्र श्री दत्तात्रेय पलुस्कर को केवल आशीर्वाद दे, उन्होंने इस असार संसार को छोड़ उस अमर्त्य-लोक में देवों को संगीत परायण करने के लिए प्रस्थान कर दिया ।

इनके अनेक शिष्य आज दिग्विख्यात हैं, जिनमें पंडित ओंकारनाथ ठाकुर, विनायक राव पटवर्धन आदि अनेक स्मरणीय हैं। स्वर्गीय श्री दत्तात्रेय पलुस्कर भी अपने योग्य पिता के सच्चे उत्तराधिकारी सिद्ध हुए।

संगीत पर विष्णु दिगम्बर के ऋण का मूल तो दूर रहा, सम्भवतः सूद भी कदापि नहीं दिया जा सकेगा। उनकी इस क्षेत्र में जितनी सेवा है उसके अनुरूप उन्हें फल आज तक भी नहीं मिल पाया है।



उर्दू के प्राण — मिर्ज़ा ग़ालिब

'उनके देखे से जो आ जाती है मुँह पे रौनक़ ।
वह समझते हैं कि बीमार का हाल अच्छा है ॥'

उक्त शेर किस की तबीयत नहीं फड़का देता, किसके हृदय की चुभन
बढ़ा देता ? वास्तव में, शेर में सच्चे प्रेमी की वास्तविकता
। अच्छा दिग्दर्शन है, कितना यथार्थ वर्णन ! कोई कितना भी दुखी
क अथवा शरीरिक परेशानी से भरा हो, किन्तु जब भी अपने प्रिय
देखता है तो आनन्द विभोर हो उठता है । यद्यपि यहाँ कवि (शायर)
स्वान्तः सुखाय की है, किन्तु जब तक उस का दर्द विश्व का दर्द हैं
ड़प उठता, जब तक एक-एक व्यक्ति की भावना उस दर्पण में नहीं द
, तब तक क्या लाभ उसके कवि बनने का ? तब तक उस दैवी प्रतिभ
ख ? सुख इसीलिए कि 'मुश्किलें मुझ पर पड़ीं इतनी कि आ

होकर वे स्वयं भी तो सुख लेते ही हैं। इसी कारण तो ये भावना में यानी कवि सर्वदा सभी के अधरों पर आता रहता है, इसी में उनका अपनापन भी अनुभूति का आलिङ्गन प्राप्त करता है।

पूर्वोक्त शेर उर्दू के सर्वप्रसिद्ध, लोकप्रिय एवं प्रख्यात शायर मिर्ज़ा ग़ालिब का है। वैसे ग़ालिब के नाम से भारत का प्रत्येक साहित्य-प्रेमी परिचित है, किन्तु सम्भवतः उनकी जीवन-साधना से बहुत कम लोग भिज्ञ होंगे। बंगला साहित्य के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार शरत्‌चन्द्र चट्टोपाध्याय ने अपने उपन्यास 'पथ के दावेदार' में कवि के विषय में लिखा है: 'कवि अपने दुख अपने तक ही सीमित रखता है, किन्तु सुख सब को बाँट देता है, बेझिझक हो, मुक्त करों से।' दुःखों का आलिङ्गन ही साधना है, और जिसे जीवन के जितने कटु अनुभव मिलेंगे, उसकी अनुभूति उतनी ही प्रखर होगी और लेखनी में उतना ही अधिक जीवन होगा। ग़ालिब के जीवन में कष्टों ने उनसे कोई कम प्यार नहीं किया, फिर उन की लेखनी में सजीवता क्यों न हो? जन्म से ही कष्टों ने उनके साथ गठबन्धन कर लिया था और अन्त समय तक साथ निभाया।

ग़ालिब के पूर्वज ईरान के शासक थे। किन्तु ईरान साम्राज्य के सूर्यास्त पर उनके पितामह भारत चले आये थे। उस समय दिल्ली के सिंहासन पर मुग़ल सम्राट् शाह आलम अपनी क्षीण ज्योति फैला रहे थे। अकबर का सुगठित राज्य एकदम छिन्न-भिन्न हो चुका था और उस शेष पर भी गौरांग व्यापारियों की भयावह एवं आहारी छाया पड़ी हुई थी' किन्तु सम्राट के ठाठ तो शाही थे ही। चाहे नाम मात्र को ही सही, थे तो दिल्ली सल्तनत के सम्राट ही। गवर्नर सलाम तो करता ही था। ईरान के शाही वंशज को अपने दरबार में देखते ही शाह आलम ने जागीर अता की और उन्हें अपना दरबारी नियुक्त कर लिया। दरबार में विलासिता भर कर गई थी, परिणामतः ग़ालिब के पितामह की जागीर भी पानी की तरह बह गई, पता भी नहीं चला, झोंका आया भी और चला भी गया।

इसके पश्चात् ग़ालिब के पिता अब्दुल्लाबेग दिल्ली सल्तनत को छोड़ लखनऊ नवाब आसफ़ुद्दौला की शरण में गये। वहाँ से कुछ दिनों पश्चात् ही

वह हैदराबाद और फिर वहाँ से अलवर पहुँचे। अलवर के महाराज बख्तावर सिंह की उन्होंने बहुत सेवा की, अनेक युद्ध विजय किये, और फिर वहीं एक युद्ध के दौरान् में स्वर्ग पथ के राही बन गये।

सन् १७९६ ईस्वी में ग़ालिब का जन्म अलवर में हुआ। पाँच वर्ष की अल्पायु में ही पितृहीन हो जाना उनके लिए बड़े दुर्भाग्य की बात सिद्ध हुई किन्तु नसरुल्ला बेग ने, जो ग़ालिब के सगे चाचा थे, ग़ालिब का पालन-पोषण किया और अरबी-फ़ारसी के अध्ययन का प्रबन्ध किया। दुर्भाग्य की विकराल छाया ग़ालिब के पीछे-पीछे ही चलती थी, अतः चाचा नसरुल्ला भी कुछ ही समय पश्चात् अपने भाई अब्दुल्ला से जा मिले। नसरुल्ला को कम्पनी की ओर से डेढ़ लाख रुपये की जागीर मिली थी, किन्तु ग़ालिब तो उसके योग्य अधिकारी नहीं थे, इसलिए वह छिन गई। बहुत लिखा-पढ़ी की गई, किन्तु सब व्यर्थ। नक्कारखाने में तूती की आवाज़ कौन सुनता है?

ग़ालिब के एक मित्र ने उनकी अत्यन्त दीन दशा देखकर मंत्रणा दी कि वह हैदराबाद चले जायें, किन्तु उन्होंने उत्तर में एक पत्र लिखा, जिसमें उस प्रस्ताव के प्रति एकदम निराशा के भाव झलक रहे थे। ग़ालिब बहुत निराश हो चुके थे, किन्तु इस निराशा में भी सन्तोष उनके साथ रहा।

उन्हें नवाब अहमद बख्श ख़ाँ की ओर से दस हज़ार रुपये प्रति वर्ष निश्चित हुए, किन्तु वे भी उन्हें प्राप्त नहीं हो सके। देहली के रेजीडेन्ट कॉलब्रुक एवं सेक्रेटरी महोदय ने इस बात को निबटाना चाहा, किन्तु वह भी असमय ही काल के ग्रास बन गये।

एक लम्बे अर्से की चेष्टा के पश्चात् वह बड़ी कठिनाई से दिल्ली दरबार में पहुँच सके; वहाँ उन्हें पचास रुपये मासिक पर नौकर रख लिया गया, किन्तु दुर्भाग्य यहाँ भी शैतान की भाँति मुँह बाये उनके साथ था। दो वर्ष तक रुपये देने के पश्चात् मुग़ल सम्राट भी इस द्वारे-फ़ानी से कूच फ़रमा गये, और ग़ालिब को मिलने वाली वह नगण्य आर्थिक सहायता भी बन्द हो गई।

बाद में, नवाब वाजिद अली शाह ने पाँच सौ रुपये वार्षिक आर्थिक सहायता देनी स्वीकार किया, किन्तु दो वर्ष पश्चात वह भी पतनोन्मुख हो गये, और ग़ालिब मियाँ पुनः पहले की भाँति निस्सहाय रह गये।

१८३० में ग़ालिब ने अपनी जागीर पाने के प्रयत्न के सिलसिले में कलकत्ता का दौरा किया। बड़े परिश्रमों को जब असफल होते देखा, तो निराश में लौट आये।

इसके पश्चात्, जब वह आर्थिक कष्ट से अतीव चिन्ताकुल हुए तो अपने शिष्य नवाब रामपुर के यहाँ चले गये। वहाँ उनका सम्मानित होना निश्चित ही था। नवाब रामपुर ने उन्हें दो सौ रुपये मासिक की आर्थिक सहायता देनी आरम्भ करदी।

किन्तु ग़ालिब को दिल्ली से कुछ 'इश्क' सा था, अतः कुछ दिन पश्चात् ही वह रामपुर छोड़ दिल्ली चले आये और अपने जीवन के अन्तिम दिनों को वहीं व्यतीत किया।

१८५७ के भारतीय स्वतंत्रता के प्रथम युद्ध (सिपाही विद्रोह) में ग़ालिब पर भी सन्देह किया गया, किन्तु बाद में उन्हें निरपराध समझ छोड़ दिया गया। सन्देह किया जाने पर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ, किन्तु करते क्या? अंग्रेज़ी सरकार में कौन किसी की सुनता? कुछ दिनों पश्चात् अंग्रेज सरकार की ओर से उनकी पेंशन पुनः चालू कर दी गई, और सम्भवतः वही उनके लिए पर्याप्त थी।

स्वतंत्रता संग्राम के कुछ वर्ष पश्चात् मिर्ज़ा ग़ालिब को दिल्ली कॉलिज में फ़ारसी का प्रोफ़ेसर नियुक्त कर दिया गया। ग़ालिब वहाँ पहुँचे, और इस आशा में कि उनका स्वागत करने अधिकारी महोदय बाहर आयेंगे, वह बाहर ही बैठे रहे किन्तु पर्याप्त प्रतीक्षा करने के उपरान्त भी वह बाहर नहीं आये। उधर अन्दर उनकी प्रतीक्षा होती रही। बाद को जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि उनका स्वागत इसलिए नहीं किया जा सकता कि वह नौकरी करने के लिए आये हैं, तो वह यह कह कर नौकरी को तिलाञ्जलि देकर चले आये: "मैं तो नौकरी में प्रतिष्ठा की वृद्धि समझता था, किन्तु यहाँ तो बुज़ुर्गों की प्रतिष्ठा भी धूल में मिली जा रही है।" बाद में उस स्थान पर मोमिन को ८० रुपये मासिक पर नौकर रख लिया गया।

मिर्ज़ा ग़ालिब अत्यन्त विनोदप्रिय जीव थे। सामयिक लोगों से बातचीत के दौरान में उनकी हँसी गूंजती रहती थी।

ग़ालिब जहाँ स्वाभिमानी थे, वहाँ कुछ खुशामद भी कर लेते थे। दिल्ली के अन्तिम मुग़ल सम्राट् बादशाह ज़फ़र की चाटुकारिता में ग़ालिब अधिक रहे हैं, और यह उनकी रचनाओं पर स्पष्ट छाप लिये हुए है :—

'बना है शाह का मुसाहिब, फिरे है इतराता।
वर्ना ग़ालिब की हक़ीक़त ही क्या थी॥'

पुनश्च्

'क्या कम है यह शरफ़ कि ज़फ़र का गुलाम हूँ।'

वैसे तो वास्तव में, ग़ालिब उर्दू के नहीं वरन् फ़ारसी के महाकवि थे, किन्तु यदि उर्दू अदब से ग़ालिब के साहित्य को निकाल दिया जाये तो कुछ भी शेष नहीं रहेगा। फ़ारसी में उनके तीन दीवान (काव्य संग्रह) हैं, किन्तु उर्दू का दीवान किसी से कम नहीं है, वरन् किसी सीमा तक अनन्य है। यदि उर्दू कविता जगत में ग़ालिब जैसा देदीप्य नक्षत्र नहीं आता तो यह निश्चित था कि आज की उर्दू कहीं और ही जाती—उसमें इस सौष्ठव एवं सुन्दरता का समावेश नहीं हो पाता। उर्दू शायरी में रेख़्ता छन्द की परम्परा को चलाने का श्रेय मिर्ज़ा ग़ालिब को ही है। वैसे ग़ालिब मियाँ की भाषा अत्यन्त कठिन होती थी, इसी बात को लक्ष्य कर एक बार स्वर्गीय आग़ा जान साहब ने कहा था :—

'अगर अपना कहा तुम आप ही समझे, तो क्या समझे ?
मज़ा कहने का जब है एक कहे और दूसरा समझे॥'

किन्तु ग़ालिब की अपनी वही रफ़्तार चलती रही ! हाँ, उसमें कुछ शिथिलता अवश्य आगई। जब इस पर भी उनके आलोचकों ने उनका पीछा नहीं छोड़ा तो सम्भवतः उन्होंने कुढ़ कर कहा था 'नहीं है मेरे इशआर में मानी न सही।'

सर्व प्रथम ग़ालिब ने 'असद' उपनाम से लिखना आरम्भ किया था, किन्तु उसी समय एक और महाशय भी 'असद' नाम से शायरी कर रहे थे

शायरी नष्ट कर रहे थे वरन् इस हसीन कला को बदनाम कर रहे थे। एक दिन उन असद मियाँ की रचना ग़ालिब की नजर पड़ी। उसे पढ़कर ग़ालिब साहब आग-बबूला हो उठे, क्योंकि रचना में कहीं भी कविता के नियमों का पालन नहीं किया गया था। अतः उसी दिन से उन्होंने 'असद' उपनाम को तिलांजलि दे दी और 'ग़ालिब' उपनाम रख लिया। किन्तु अपनी पूर्व रचनाओं में 'असद' उपनाम को ज्यों का त्यों बरक़रार रहने दिया। ग़ालिब के नाम से उनकी प्रतिभा ने खूब विकास पाया और ग़ालिब नाम को सार्थक कर दिया, जिस का अर्थ है सर्वश्रेष्ठ।

ग़ालिब का विवाह नवाब इलाही बख़्श ख़ाँ की सुपुत्री से केवल तेरह वर्ष की अल्प आयु में हुआ था। ग़ालिब को शेर और शायरी एवं सुरा से अत्यधिक प्रेम था, किन्तु उनकी पत्नी को इन चीज़ों से उतनी ही चिढ़ थी। इसीलिए दोनों की आपस में कभी भी नहीं पटती थी। फिर भी ग़ालिब को सात बच्चों का पिता बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था; किन्तु उन सातों में से कोई भी एक वर्ष से अधिक जीवित नहीं रह सका। वह स्त्री से इतना परेशान हो उठे थे कि अपने शिष्यों एवं मित्रों को कभी भी विवाह न करने का आदेश देने लगे थे।

वैसे तो ग़ालिब अत्यधिक गुणग्राही थे, इसका ज्वलन्त उदाहरण है, आपके समकालीन शायरों की सुन्दर रचनाओं को कण्ठस्थ कर लेना। यद्यपि ज़ौक़ उनके प्रतिद्वन्द्वी थे, किन्तु उनके इस शेर की वह बड़ी प्रशंसा किया करते थे, एवं बड़े मनोयोग से पढ़ा करते थे :

"अब तो घबराके ये कहते हैं कि मर जायेंगे।
मर के भी न पाया चैन तो किधर जायेंगे॥"

इसके अतिरिक्त ग़ालिब मियाँ ने दाग़ के बहुत से शेर भी कण्ठस्थ किये हुए थे। मोमिन पर तो मानो वह फ़िदा ही थे एवं मीर दर्द तो उनकी प्रेरणा के समान ही रहे थे—उनका अनुसरण तो ग़ालिब की रचनाओं में अनेक स्थानों पर स्पष्ट उभर आता है।

उर्दू काव्य में शृङ्गार, और वह भी विप्रलम्भ का ही, प्राथमिकता दी जाती रही। वैसे थोड़ा-बहुत और भी मिल जाता है, किन्तु साक़ी-शराब, आशिक़-माशूक़ के अतिरिक्त कुछ अधिक दिखाई नहीं देता। यदि देखा जाये तो स्वयं ग़ालिब भी शराबी थे, शृङ्गारी थे, किन्तु उनकी रचनाओं में दार्शनिकता का योग उनकी अपनी मौलिकता थी, और उर्दू साहित्य को उनकी यह देन पर्याप्त समृद्ध बना गई है।

ग़ालिब का जीवन दीप बुझने से कुछ समय पूर्व वे बहरे हो गये थे, और बात करने के लिए केवल क़लम-काग़ज़ का ही अवलम्ब लिया करते थे। जब उनके जीवन-दीप का तेल समाप्त होने वाला था उस समय उनके मुख से केवल यही निकला था ;

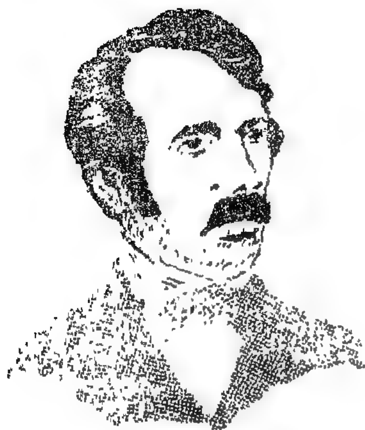
"दमे वापिसीं, बरसरे राह है।
अज़ीज़ो अब अल्लाह ही अल्लाह है॥"

और यह कहने के साथ-साथ १८६९ ई० में एक दिन अपनी साँसें पूर्ण कर दीं, जिससे ऐसा प्रतीत हुआ मानो उर्दू काव्य-गगन का चन्द्रमा राहु ने ग्रस लिया।

ग़ालिब के अनेक शिष्य थे जिनमें तुफ़्ता, नवाब ज़ियाउद्दीन ख़ाँ, सालिक, मजरूह, हाली इत्यादि प्रमुख हैं। हाली तो अमर कवि हैं ही।

मीर ने ग़ालिब की स्मृति में कहा था—

"दुनिया में हैं और भी सुख़नवर बहुत अच्छे।
कहते हैं ग़ालिब का था अन्दाज़े बयाँ और॥"



डेविड लिविंग्स्टन

अंधेरे को प्रकाशदाता

लिविंग्स्टन

अंधेरी रात में किसी के सिसकने का स्वर, निरन्तर तेज़ होता हुआ मौन भंग कर रहा था। अन्दर झोपड़ी में बैठा वह किन्हीं विचारों की तन्द्रा में लीन था, किन्तु पर-दुख-कातर कैसे सुन सकता है कातर ध्वनि को? वह बाहर आया और देखा एक नवयुवती के भयविकम्पित शरीर को। वह गाँव से भाग कर आई थी, क्योंकि उसे बेचा जा रहा था उसकी इच्छा के प्रतिकूल एक मुखिया के हाथों। और उसके पीछे-पीछे था एक बलिष्ठ एवं विशालकाय युवक, हाथ में बन्दूक थामे, उसे बलात् वापस ले जाने के लिए तैयार। वह क्या इसे सहन कर सकता था? दूसरों के हितचिन्तक अपना अहित कर भी दूसरे का उपकार नहीं भूल बैठते; उसने उस निर्मम प्राणी को उस लड़की के गले की माला और कुछ धन अपने पास से दे, खाली हाथ लौट जाने को मना लिया। वह यह सामान लेकर चला गया।

किन्तु उस मानव-हितचेता के लिए क्या यह नई बात थी? क्या ऐसा उसने पहले कभी नहीं देखा था? नहीं ऐसी बातें तो उसके लिए नित्य की



साधारण सी घटनाएँ थीं। वह प्रायः इससे भी घोर दृश्य देखा करता था। वह था विश्व का एक महान् 'मिशनरी' अर्थात धर्मोपदेशक जो अफ्रीका जैसे असभ्य एवं बर्बर महाद्वीप में मानवता, दया एवं करुणा का नन्हा सा दीपक लिये, उन पिछड़े हुए आदिवासियों को मार्ग दिखा रहा था।

लगभग सौ वर्ष पूर्व उस युवा धर्मोपदेशक चिकित्सक ने अफ्रीका महाद्वीप की उस बर्बरता एवं असभ्यता को जड़ से उखाड़ फेंकने का दृढ़ निश्चय किया था। जंगलों के मध्य दास प्रथा, विधर्म, क्रूरता, अंधविश्वास एवं निरक्षरता अपना नग्न नृत्य कर रहे थे। उसने आदिवासियों के ग्रामों का भ्रमण किया, मुखियों से मेल बढ़ाया ; अपने विरोधियों के जीवनान्तक विरोध का डट कर, किन्तु शान्ति एवं धैर्य के साथ, सामना किया। उन भयङ्कर लोगों के लिए औषधियों का वितरण किया, और प्रभु में विश्वास रखने का पाठ उन्हें पढ़ाया। निरन्तर तैंतीस वर्ष तक, उसने अफ्रीका के वनों में घूम-घूम कर, उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक, असाध्य रोगों से पीड़ित अनेक रोगियों का इलाज किया एवं ईसामसीह का पवित्र सन्देश सुनाया।

विश्व के सब से अधिक पिछड़े हुए इस भू भाग में, ईसाई धर्म की ज्योति को अक्षुण्ण करने के साथ ही, उसने अनेक अज्ञात प्रदेशों के मार्गों की खोज कर डाली, और यही नहीं, वरन् सन् १८४० में वह इसी अज्ञात भू भाग में अपनी अन्तिम स्वांसें गिनता पाया गया। इस महामानव—अफ्रीका के पिता—का नाम था डॉक्टर डेविड लिविंग्स्टन।

वह बाल्यकाल से ही बहुत परिश्रमी था। युवावस्था प्राप्त करने पर उसने लकाशायर की सूत कातने की मिल में लगातार बारह-बारह घंटे काम किया था। ऐडिनबरा विश्वविद्यालय में वह अपने भावी जीवन के कार्य-क्रम के लिए धार्मिक ज्ञान एकत्र कर चुका था, किन्तु उस समय वह बहुत निर्धन था, भोजन एवं वस्त्रों का अभाव उसे प्रायः सताता रहता था, इस पर भी वह शरीर से बहुत हृष्ट-पुष्ट था और साथ ही स्वभाव से भी अत्यन्त मधुर था।

जब उसने अपने सार्वजनिक जीवन का प्रारम्भ किया तो एक सभा में भाषण देने के लिए बुलाया गया। वह भाषण देने के लिए खड़ा हुआ तो

बहुत घबरा कर हाँफते हुए केवल यही कह सका "मित्रो जो कुछ मैं कहना चाहता था वह सब भूल गया।"

वह संसार के झूठे आडम्बरों एवं प्रपंचों से बहुत दूर था। अफ्रीका की बर्बरता देख मानवता का यह अनन्य पुजारी रो उठा करता था। वह उनके प्रति करुणार्द्र हो, भगवान से दया की भिक्षा माँगा करता था। दास-प्रथा से वह अत्यधिक क्षुभित था और दानवों जैसी उस प्रथा का अन्त करने का रास्ता खोजने में उसने पर्याप्त प्रयास किया था। वह एक चिकित्सक की हैसियत से वहाँ पहुँचा था और जब वह उनके घावों को धोकर मरहम-पट्टी कर देता तब कहीं वे पथहीन मनुष्य उस से अनुरक्त होते और इसके बदले वे उस से मानव के समान रहने का उपदेश प्राप्त करते। उसे उन असभ्य लोगों को शिक्षा दान देने और उन से सम्बन्ध स्थापित करने में महान् आत्मिक सुख प्राप्त होता था।

सतत प्रयत्न करने के पश्चात्, उन आदिवासियों के बीच उसे एक 'अच्छा आदमी' मान लिया गया था, तिस पर भी उसकी कठिनाइयों का अन्त नहीं हुआ था। प्रत्येक क्षण भयानक घटना होजाने की सम्भावना रहती, और उसे एक जागृत सैनिक के समान अनिश्चित् एवं भयङ्कर तूफ़ानों से जूझने के लिये तत्पर रहना पड़ता था।

वह उन आदिवासियों से मैत्री बढ़ाने के लिए, अनेक प्रकार की भेंट उपहार-स्वरूप दिया करता था; जैसे मालाएँ, कपड़े, औषधियां आदि। कभी-कभी तो वह कई मास उनके बीच इसलिए व्यतीत करता था कि वह उन्हें उनके जीवन-स्तर को ऊँचा करने की युक्तियां सुझा सके। रविवार के दिन वह आसपास के आदिवासियों को एकत्र करके धर्म की अच्छी-अच्छी बातें भी सुनाया करता, महापुरुषों की कठिनाइयां बताता, दूसरे देशों की सभ्यताओं का वर्णन करता, और उन्हें धर्म का मार्ग अवलम्बन करने का उपदेश देता। व्यवहार-कुशल बनने एवं उनसे हिल-मिल कर रहने के हेतु उसने उनकी भाषाओं को भी सीखा और साथ ही उनकी ही भाषा में ईसा मसीह के सदुपदेशों को समझाने का अकथनीय प्रयास किया। धीरे-धीरे के

आदिवासी यह समझने लगे कि यह गोरा व्यक्ति उनसे क्या कहना चाहता है। वे उस गोरे व्यक्ति को उस समय तक 'सर्वश्रेष्ठ' मान चुके थे, अतः उन्हें इस बात का विश्वास जम गया था कि इस गोरे का प्रभु उस से भी कहीं अधिक 'सर्वश्रेष्ठ' होगा। शनैः-शनैः उनकी आस्था ईसा मसीह के उपदेशों में दृढ होने लगी, किन्तु दुर्भाग्य यह रहा कि श्री लिविंगस्टन का कार्य कभी भी शान्तिपूर्वक नहीं हो सका। मित्रों और शत्रुओं की ओर से सदैव कोई न कोई कठिनाई उपस्थित होती रहती।

एक बार एक विरोधी कबीले के मुखिया ने उस के बैल को मार डाला और अपने साथियों को उसका शिविर घेरने की आज्ञा देदी। उस समय लिविंगस्टन का धैर्य वास्तव में दर्शनीय था। बड़ी शान्ति के साथ मुस्कान पूरित मुख लिये वह ईसा का संदेश सुनाने लगा। नहीं मालूम, उस भाषा में क्या जादू था, उस शान्ति में क्या प्रभाव था, वह उन्मत्त जनसमूह चुपचाप लौट गया!

इसी प्रकार मित्रों की ओर से भी कभी-कभी अड़चनें उभर आती थीं। एक बार उसके अनुयायी मुखिया ने सुझाव रखा कि समस्त विपक्षियों को गेंडे की खाल के चाबुक से पीट-पीट कर राह पर लाया जाये, किन्तु यह तो बलात् बात को मनवाने वाली बात हुई। वह शरीर नहीं बदलना चाहता था, वह चाहता था कि उनके अन्तःकरण बदल जायें। वह मानवता एवं अहिंसा का सच्चा पुजारी था, उसकी इच्छा किसी की भावना को ठेस पहुँचाने की कभी भी नहीं रही। उसने अपने इस उन्मत्त अनुयायी को बड़ी कठिनाई से अहिंसा के अनेक उदाहरण एवं उपदेश दे शान्त किया, और समस्त उद्देश्यों का स्पष्टीकरण किया।

प्रायः लोग उसकी परीक्षा ले बैठा करते थे। एक बार एक बड़ा ही कठिन अवसर आया। मध्य अफ्रीका की एक जाति ने, जो बाकवेन के नाम से प्रसिद्ध है, उसे बेमौसम वर्षा करवाने की चुनौती देदी। उसने उस चुनौती को स्वीकार कर लिया और झील में गड्ढे खोद, वर्षा का पानी एकत्र कर, सामान्य बुद्धि की कृपा स्वरूप उसने वहाँ सर्वप्रथम कृषि-उद्यम का श्रीगणेश कराया।

बाका के लोगों ने एक बार एक अरब व्यापारी को कुलियों सहित मार डाला। उस समाचार को सुन कर वह उस कबीले के सरदार से मिला और उसके साथ ही भोजन किया। उसकी निर्भीकता, सचाई एवं सरलता से परिपूर्ण, शीघ्र समझ में आजाने वाले उपदेशों को सुन वे अत्यधिक प्रभावित हुए। उन्होंने लिविंग्स्टन द्वारा बताई गई विधि के अनुसार ईश्वर से क्षमा याचना की एवं पश्चात्ताप किया।

प्रकृति ने भी उसके अदम्य साहस की खूब परीक्षा ली। अपने अफ्रीका प्रवास के प्रथम पाँच वर्षों में उसे इकतीस बार मलेरिया का शिकार बनना पड़ा एवं आराम करने के लिए विवश होना पड़ा। किन्तु अपनी पत्नी के अपूर्व सहयोग एवं सेवा के बूते वह उन आपदाओं से लड़ता रहा एवं सदा अपने नीरस कामों में मन लगाये रहा। उसकी सुयोग्य पत्नी मोफ़ेट मेरी अफ्रीका में ही जन्मी थी, अतः वह वहाँ के संकटों की अभ्यस्त थी। उसने इस कठिन काम में अपने पति के कदम से कदम मिला कर पैर रखा।

उसका स्थाई निवास-स्थान कोलोबेंग में था, किन्तु जब पत्नी और बच्चे बीमारियों के उपद्रव से परेशान हो उठे तो वह उन सबको केपटाउन ले आया, और अपने हितैषियों के बहुत समझाये-बुझाये जाने पर इंग्लैण्ड जाने के लिए सहमत हो सका। इसी बीच में बोअर जाति ने उसका घर लूट लिया, पुस्तकें अग्नि में भेंट चढ़ा दीं, स्कूल बन्द करवा दिये, और अनुयायियों में अत्यन्त आतङ्क फैला दिया। यदि वह गर्म लोहे को गर्म लोहे से काटने का प्रयास करता तो कुछ भी नहीं बन पड़ता अतः वह धैर्य एवं शान्ति से उन्हें क्षमा करता रहा। फिर एक दिन उन अर्ध मूर्खों को अपने उस कुकृत्य के लिए ईश्वर से क्षमा याचना करनी पड़ी।

उसने विश्व के इस नये भू-भाग के अनेक नये मार्गों की खोज की, जिसके लिये संसार का भूगोल उसका सदैव आभारी रहेगा। अफ्रीका के एक तिहाई भाग—केप आव गुड होप से विषुवत् रेखा, और अतलांतक महा-सागर से हिन्द महासागर—के मार्गों को खोजना उसी के परिश्रम का फल है। 'विक्टोरिया फॉल' को, जो संसार का विख्यात झरना है, सर्वप्रथम खोजने

का श्रेय भी उसी को है। अफ्रीका के पश्चिमी समुद्र-तट के आन्तरिक भागों का परिचय भी उसी के द्वारा मिला। इसके अतिरिक्त उसने अपने दल की सहायता से अनेक जलमार्गों का पता लगाया, जिनमें न्यासा एवं टम्येनिका के जलमार्ग सुप्रसिद्ध हैं। नगामी और न्यासा झील को देखने वाला प्रथम योरुपीय भी वही था। जिस नये मार्ग का उसे पता लगता, उसका मानचित्र बना कर वह रायल ज्योग्राफिकल सोसाइटी, लन्दन को भेज देता था।

जब वह लन्दन में अपने परिवार से मिलने आया, तो भी वह निश्चेष्ट नहीं बैठ सका। वह वहाँ 'मिशनरी पिल्ग्रिमेज' नाम की पुस्तक को लिखने में व्यस्त रहा।

लन्दन से लौट कर वह पुनः अफ्रीका पहुँचा, और वहीं एक यात्रा के दौरान में श्रीमती लिविंग्स्टन की मलेरिया के कारण मृत्यु हो गई। कई दिनों तक वह अपनी पत्नी की कब्र पर आँसू बहाता रहा, किन्तु कर्मक्षेत्र उसे निरन्तर पुकार रहा था। उसने अपने को संयत किया और अपने अपूर्ण कार्य को पूर्ण करने में पुनः मनोयोग के साथ रत होगया।

एक बार उसे इंग्लैण्ड के राजकुमार के दर्शन हुए और उनके मुख से अपनी ख्याति सुन वह आश्चर्यान्वित हो उठा। विचार-विमर्श के लिए कई वैज्ञानिकों ने उसे बुलाया। एक बार महारानी ने भी उसे निमंत्रित किया।

सन् १८६४ में उसने अपने द्वारा खोजे हुए मार्गों की पुनः यात्रा आरम्भ की। अब तक उनका सारा रंग बदल चुका था, यह देख उसे अतीव प्रसन्नता हुई। इसी दौरे के मध्य उसकी भेंट एक अमेरिकी पत्रकार स्टेनली से हुई। स्टेनली ने उसके समस्त विवरण अपने अखबार में प्रकाशित किये जिससे लिविंगस्टन की ख्याति में चार चाँद लग गये।

नील के जलमार्ग की खोज करते समय वह बीमार पड़ गया। सभ्य संसार को लम्बे अर्से तक उसका समाचार नहीं मिल सका। उसकी खोज की गई, और एक दिन बीमारी की दशा में, जंगलों के बीच, स्टेनली को, जो खोज करने वाले दल का प्रधान था, तड़पता हुआ वह मिल गया।

सन् १८७४ की अट्ठारहवीं अप्रेल को उसी बीमारी की दशा में, उसकी जीवन बाती सदा के लिये शान्त हो गई। उसके शव को पूर्ण सम्मान एवं शानो-शौकत के साथ वेस्टमिन्स्टर ऐबे में दफ़ना दिया गया।

आधुनिक कौटिल्य

चर्चिल



सर विन्स्टन चर्चिल का लम्बा जीवन अनेक बहुमुखी
लिये हुए है। इतनी प्रतिभाएँ विश्व का अन्य कोई राजनीति
वह एक सैनिक, युद्ध-सम्वाददाता, लेखक, चित्रकार, इतिहा
मंत्रिमंडल के सदस्य एवं सफल प्रधान मंत्री, एक साथ ही र
में अनेक उत्थान-पतनों के होते हुए भी वह कभी निराश
अपने पथ पर अग्रसर होते रहे। वर्षों की कठोर साधना
को, अनुभव की सान पर तीक्ष्ण करने के साथ-साथ परिपक्व

विन्स्टन लियोनार्ड स्पेन्सर चर्चिल का जन्म राजनीति
युक्त सुविख्यात वंश में १८७४ ईस्वी में हुआ था। उनके पि
लॉर्ड रेन्डॉल्फ चर्चिल था, जो सप्तम ड्यूक ऑव मार्लब

श्रीमती रेन्डाल्फ चर्चिल (सर विन्स्टन की मां) आग्ल अमरिकन थीं सर विन्स्टन चर्चिल के श्वसुर श्री लियोनार्ड किसी समय 'न्यूयॉर्क टाइम्स' के सम्पादक थे ।

हैरो के अध्ययन के पश्चात्, जहाँ, उनके अपने शब्दों में, वे अंग्रेजी लिखने के अतिरिक्त कुछ और नहीं सीख सके थे, चर्चिल ने सैनिक शिक्षा सैन्डहर्स्ट में प्राप्त की । सैन्डहर्स्ट में वह डेढ़ सौ युवकों में अष्टम स्थान प्राप्त कर १८९४ ईस्वी में निकले । आगामी वर्ष ही वह चतुर्थ हुसर्स में नियुक्त हो गये, और चार वर्ष तक निरन्तर विश्व के विभिन्न भागों में सैनिक सेवा करते रहे । उस समय उन्होंने दो ग्रन्थ 'दी स्टोरी ऑव मालकन्द फील्ड फ़ोर्स' एवम् 'द रिवर वार' लिखे, और उनके प्रकाशन के साथ-साथ, प्रख्यात लेखक भी होगये ।

सूडान युद्ध के समाप्त होने पर, चर्चिल ने सैनिक विभाग को परित्याग करने का निश्चय कर लिया, अतः सन् १८९९ में त्याग पत्र दे, वह पत्रकार बनने इंग्लैंड चले आये । इसके साथ ही उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण करने की चेष्टा की, किन्तु बहुत थोड़े मतों से वह प्रथम निर्वाचन में असफल रहे । कुछ दिनों पश्चात् ही बोअर युद्ध छिड़ गया । विन्स्टन चर्चिल को सम्वाददाता बना, दक्षिण अफ्रीका की ओर 'मॉर्निंग पोस्ट' समाचार पत्र ने भेज दिया । उसी वर्ष पटरी से उतरी हुई एक गाड़ी के लोगों की सहायता करते हुए उन्हें पकड़ लिया गया, किन्तु वह वहाँ से भाग निकले और 'लाइट हॉर्स' सैनिक टुकड़ी में लेफ्टीनेन्ट बन गये । उस दौरान में उन्होंने जो भी सम्वाद समाचार पत्र में भेजे, वे पाठकों के लिये एक विशेष आकर्षण बन कर रह गये ।

सन् १९०० में वह पुनः संसदीय निर्वाचन के लिये इंग्लैन्ड लौट आये, और वहाँ सर्व प्रथम, चार वर्ष के लिये, 'हाउस ऑव कॉमन्स' के सदस्य रहे । यहीं से उनके संसदीय जीवन का प्रारम्भ होता है । उन चार वर्षों में, उन्होंने कन्जर्वेटिव दल की विदेश नीति में पूर्ण सहयोग दिया, किन्तु 'टैरिफ़ सुधार' के कारण उस दल का परित्याग कर, लिबरल दल में प्रवेश कर लिया । लिबरल

न्ल की ओर से पुनः १९०६ में हाउस ऑव कामन्स' में प्रतिनिधि बन पहुँच गये। उस समय उन्होंने लिबरल दल के सुधारों एवं गृहनीति का पूर्ण समर्थन किया। उस समय बहुत से सुधार हुए जिन में 'फैक्टरी एक्ट' में सुधार, जेल एक्ट संशोधन आदि प्रमुख हैं। 'ट्रेड बोर्ड के नियम' के प्रति वह ही उत्तरदायी हैं, और औद्योगिक न्यायालय भी उनके प्रयासों का ही फल रहा। १९०८ में उन्होंने खनिकों के लिये, आठ घंटे कार्य करने के नियम को भी पारित कराया।

सर विन्स्टन चर्चिल केवल स्वदेशीय सुधारों की ओर ही चिन्तित नहीं थे, वरन् वह विदेशी नीति से भी विशेष रूप से परिचित होना चाहते थे। उस ओर अपनी प्रतिभा को प्रभासित करने की इच्छा बलवती हो उठी। १९३७ में वह मंत्रिमंडल में प्रथम बार पहुँच कर ही 'अन्डर सेक्रेटरी' के पद पर कार्य करने लगे थे। तेरह वर्ष पश्चात् उन्होंने अत्यन्त कठोर प्रयासों से मध्यपूर्व एवं आयरलैन्ड में शान्ति स्थापना की, किन्तु बोअर युद्ध का अन्त हो जाने पर उन्होंने दक्षिणी अफ्रीका में स्थानीय स्वराज्य स्थापित कराने के हेतु, जो प्रयत्न किये थे, वे वास्तव में शान्ति स्थापना के महान् कार्यों में थे। लॉर्ड बैल्फ़ोर के शब्दों में वे प्रयत्न ब्रिटिश इतिहास की महान् घटनाओं में से थे।

१९०८ में वह 'ट्रेड बोर्ड' के सभापति तथा १९१० में गृहमंत्रालय के सचिव बने। १९११ में उन्होंने लॉर्ड की पदवी प्राप्त की। प्रथम विश्वयुद्ध के समय भी वह उसी पद पर कार्य करते रहे। १९१४ में युद्ध घोषणा के साथ-साथ ब्रिटिश नौ सेनाएँ तैयार थीं, इसका एक मात्र कारण विन्स्टन चर्चिल ही थे। वह भावी को समझ चुके थे और जुलाई मास में ही उन तैयारियों का आज्ञा पत्र भी निकाल चुके थे। साथ ही पेन्टवर्थ में स्वयं जाकर भी उन तैयारियों को देख चुके थे, जिससे जलडमरूमध्य के तटों की रक्षा सरलता से हो सकी।

गैलीपोली की असफलता का उत्तरदायित्व भी, जिसे वह सरलता से हटा सकते थे वे अपने ऊपर ले बैठे। यदि गैलीपोली में सफलता मिल जाती तो निश्चय ही युद्ध एक वर्ष पूर्व समाप्त हो गया होता। उस असफलता के

कारण उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे पश्चिमी युद्ध स्थल पर सेनाध्यक्ष का कार्य भार संभाल लिया, किन्तु लायड जॉर्ज ने उन्हें पुनः वहीं बुला लिया, और सेक्रेटरी बना दिया। उसी समय उन्होंने टैंक का समर्थन एवं प्रयोग करने पर बहुत विवाद किया एवं उस का प्रयोग करा कर छोड़ा।

१६२२ में, जब लायड जॉर्ज की सरकार की अवनति हुई, तो चर्चिल भी राजनैतिक भय से अदृश्य हो गये। उस समय वह दो बार चुनावों में बुरी तरह पराजित हुए। इस अवधि के दो वर्ष चित्रकला और साहित्य की सेवा में व्यतीत किये। उसी समय 'वर्ल्ड क्राइसिस' के प्रथम दो खंड प्रकाशित हुए, जिन्हें आलोचकों ने युद्ध इतिहास के हेतु अत्यन्त उपयोगी बताया।

१६२४ ईस्वी में वह पुनः राजनीति की ओर अग्रसर हुए तथा ईपिंग के कन्जर्वेटिव प्रतिनिधि के रूप में चुने गये। वह विजय उन्हें लगभग १०,००० मतों से प्राप्त हुई थी। उस बार वह 'एक्सचेकर' नियुक्त हुए एवं उस पद पर १६२६ तक लिबरल सरकार के बनने तक आसीन रहे।

१६३० से १६३६ ई० की दशाब्दि ऐसे ही व्यतीत हुई, किन्तु इस समय उनकी दस पुस्तकें पाठकों के समक्ष आईं, जिन में "ड्यूक ऑव मार्लबरो प्रथम" के जीवन चरित्र का विशेष स्थान है। साथ ही चार्टवैल में उन्होंने बहुत से मुग्धकारी चित्रों का सृजन भी किया। वहीं उन्होंने इंग्लैन्ड की एक आकर्षक वस्तु—अपना निवास स्थान भी—उसी समय निर्मित कराया। साथ-साथ वहीं बैठ कर वह योरूपीय घटनाओं को भी गृद्ध दृष्टि से देख रहे थे तथा ब्रिटिश सरकार को अपने भाषणों से बारम्बार जर्मनी की ओर से सचेत कर रहे थे।

आस्ट्रिया के पतन, जेकोस्लोवेकिया की पराजय, तथा ब्रिटिश विदेश नीति के असफल होने पर, जनता का विश्वास पुनः विन्स्टन चर्चिल पर जम गया, क्योंकि उस नीति का वह आरम्भ से ही कठोर विरोध कर रहे थे। १६३६ में उन्हें ब्रिटेन का प्रधान मन्त्री चुन लिया गया। यह उनके लिये सर्वश्रेष्ठ सम्मान था, ब्रिटिश राष्ट्र एवं जनता ने उन्हें अपना सर्वोत्तम व्यक्ति मान लिया था।

आगामी पाँच वर्ष उनके जीवन के महत्त्वपूर्ण दिवस रहे, क्योंकि संसार के किसी भी कोने में घटने वाली कोई घटना ऐसी नहीं थी, जिससे उनका

निकट सम्बन्ध नहीं रहा हो। पद संभालने के तीसरे दिन ही उन्होंने घोषणा कर दी थी, "मैं अपने राष्ट्र को केवल रक्तपात, दुर्बलता, अश्रु और तबाही ही दे सकता हूं।" उन्होंने अपने उद्देश्य को बताते हुए यह भी कहा था, "हमें हर दशा में विजय प्राप्त करनी ही है, चाहे उस के लिये कितना भी मूल्य क्यों न चुकाना पड़े, विजय के बिना बचाव का कोई रास्ता नहीं है।" इस के बाद ही उन्होंने अपने नागरिकों को बताया था, "हमें फ्रान्स में लड़ना होगा, हमें सागर पर युद्ध करना होगा, हमें तटों पर प्रतिरक्षा करनी होगी, और जंगल, मैदान एवं सड़कों पर लड़कर भी हम युद्ध चलाते रहेंगे। हम किसी भी बलिदान को दे देंगे, किन्तु आत्मसमर्पण नहीं करेंगे, नहीं करेंगे।"

एक वर्ष से अधिक तक नाजीवाद की क्रूर सेनाओं के विरुद्ध ब्रिटेन एवं कॉमनवेल्थ अकेला युद्ध करता रहा। उसी समय जर्मनी, रूस एवं जापान ने मिलकर पर्लहार्बर पर आक्रमण किये। दशा भयावह बन गई, स्थिति बिगड़ने लगी। ऐसे कुसमय में चर्चिल बैठे नहीं रह सके और यात्रा पर निकल पड़े। उन्होंने अपने पूर्व विचार के अनुसार परराष्ट्रों से सम्बन्ध बढ़ाने आरम्भ कर दिये। १९४१ से १९४५ ईस्वी तक वह पाँच बार, फ्रैंकलिन रूजवेल्ट तत्कालीन प्रेसीडेन्ट—से भेंट करने, अमेरिका गये। उसी दौरान में मास्को जाकर स्टालिन से मुलाकात भी की। प्रथम यात्रा में १९४२ में रूस और इंग्लैंड दोनों राष्ट्रों ने मैत्री के प्रतिज्ञा पत्र पर हस्ताक्षर किये। १९४४ में चर्चिल पुनः मास्को गये।

१९४३ में, उन्होंने चार परिषदों में भाग लिया—कैसाब्लांका, उत्तरी अफ्रीका की परिषद्; क्यूबेक, कनाडा की परिषद्; कैरो, मिस्र की परिषद्; एवं तेहरान, ईरान की परिषद्। उन परिषदों में ही जर्मनी एवं जापान को पराजित करने की योजना बनी, एवं उन्हें कार्यरूप में परिवर्तित करने की चेष्टा की गई।

१९४४ ई० के आरम्भ में नॉर्मन्डी के युद्ध स्थल पर वह तीन बार गये। उसी वर्ष उन्होंने अगस्त में मार्शल टीटो, यूनान के प्रधान मंत्री एवं पोप आदि से भेंटें कीं। अगले मास क्यूबेक परिषद् में वे रूजवेल्ट से मिले। नवम्बर

में उन्होंने घोषणा की कि अमेरिका, रूस एवं ब्रिटेन समता एवं बन्धुत्व की भावना से रहें। १९४५ की फरवरी में याल्टा में रूज़वेल्ट और स्टालिन से मिल कर जर्मनी पर अन्तिम आक्रमण की योजना निर्धारित की एवं पुनः युद्धस्थल का निरीक्षण किया। जौलाई में पोट्सडम में तीन बड़ों की अन्तिम परिषद् हुई, एवं १९४६ में युद्ध की ज्वाला शान्त होगई। याल्टा में ही उन लोगों ने संयुक्त राष्ट्र संघ की नियमावली आदि बनाई।

ये यात्राएँ द्वितीय विश्व-युद्ध की ऐतिहासिक यात्राएँ थीं। इनमें श्री चर्चिल केवल ब्रिटिश राष्ट्रों के लिये ही कार्य नहीं कर रहे थे, वरन् सभी राष्ट्रों के लिये सम्मिलित प्रयास कर रहे थे।

इतने केन्द्रीय एवं विश्वसनीय व्यक्ति होते हुए भी, वह कभी भी जनमत के विरुद्ध नहीं गये। जनता की आवाज़ को उन्होंने सदैव मान्यता दी। 'हॉउस ऑव कॉमन्स' में उन्होंने हर बात का उत्तरदायित्व संभाला। उन्होंने स्वयं ही इस बात को स्वीकार किया था : "मैं हाउस ऑव कॉमन्स का बच्चा हूँ और उसका ही सेवक हूँ।" लोकतंत्र शासन के नाते उन्होंने जनता के भावी निर्णय को मानने में कभी कोई आनाकानी नहीं की। इसका ज्वलन्त उदाहरण है—लेबर दल की सरकार के लिये स्थान छोड़ देना।

१९४५ से १९५१ तक वह विरोधी दल के सक्रिय सदस्य रहे, और गृहनीति में अच्छा स्थान पा गये। उन छः वर्षों में उनका 'द्वितीय विश्व युद्ध का इतिहास' चार खंडों में हमारे सम्मुख आया, और उसी काल में उन्होंने अनेक चित्रों का सृजन किया। उस युद्ध इतिहास के पाँचवे एवं छठे खण्ड १९५२ और १९५४ में क्रमशः बाज़ार में दिखाई दिये।

१९५१ में कंजरवेटिव दल पुनः बहुमत में आ गया, तथा उन्हें ब्रिटेन का प्रधान मंत्री चुन लिया गया। उस समय से वह विश्वशान्ति के लिये सतत् प्रयत्नशील हैं, इसी कारण वे बरमुडा भी गये। जून १९५४ में वह वाशिंगटन भी इसी हेतु गये और फिर जिनेवा सम्मेलन में भी भाग लिया। लन्दन में हुई नौ शक्तियों के सम्मेलन का उन्होंने समर्थन किया। ३० नवम्बर १९५४ को समस्त ब्रिटिश राष्ट्र ने अपनी खुशियां बटोर, उनकी ८०वीं वर्षगांठ

मनाया और उन्हें राष्ट्र का महान् व्यक्ति मान लिया । अप्रैल १९५५ में उन्होंने प्रधानमंत्रित्व से त्यागपत्र दे, अन्तर्मुखी जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दिया ।

उन्हें अनेक उच्च सम्मान प्राप्त हुए हैं—जो केवल स्वदेशीय न होकर विदेशी भी हैं । सबसे अधिक आदरणीय सम्मान उन्हें नोबल पुरस्कार मिला है, जिससे संसार ने उन्हें अपना मान्य मान लिया है ।

विश्वशान्ति के आराधक

चाउ-एन-लाई



भारत एवं चीन, दोनों महादेश आज एशिया ही नहीं अपितु संसार के मानचित्र में अपना विशेष स्थान रखते हैं। यह दोनों राष्ट्र राजनीति के केन्द्र बने हुए हैं। इन दिनों की कोई भी घटना ऐसी सकती है, जो इन दो महादेशों की मन्त्रणा के बिना हो सके। सीटो (पूर्वी एशियाई सन्धि संघ) की असफलता इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इस सन्धि संघ में विश्व के अन्य बड़े राष्ट्र, ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका सम्मिलित थे, तदपि इन दोनों देशों के निरन्तर विरोध से वह असफ इसे आज सभी मान चुके हैं।

उत्थान-पतन शाश्वत नियम है। एक दशाब्दि पूर्व, यदि कोई ऐसे जंगल में चला गया हो, अथवा समाधि लगाकर बैठ गया हो, ज सभ्य जगत का कोई समाचार ज्ञात नहीं हो सके, तो जब वह लौटकर

तो उसे आज नक्शा बदला हुआ ही दिखेगा। इस छोटी सी अवधि में दिन-रात का सा अन्तर हो गया है। परिवर्तन भी अपने खेल खूब खेलता है। उस दिन ये दोनों देश पराधीन थे, किन्तु आज संसार का प्रत्येक गण्यमान्य राष्ट्र इन दोनों से मैत्री एवं सम्बंध बनाये रखने में गौरव मानता है, इनके नेताओं का भव्य स्वागत करता है।

चीन के इस परिवर्तन का श्रेय मिला है, चीन की साम्यवादी संस्था को, जिसने उस देश की दुर्बलता को उखाड़ फेंका और जनता के सहयोग पर एक सशक्त सरकार का निर्माण किया। यही कारण है कि उस पचास करोड़ की आबादी वाले देश का सब लोहा मान रहे हैं। उस देश की सुषुप्त जनता को जागृत करने वाले, शिथिल जीवन में चेतना का संचार करने वाले व्यक्तियों में एक नाम अत्यधिक उल्लेखनीय है—श्री चाउ-एन-लाई का, जो वर्तमान समय में वहाँ के प्रधान-मन्त्रि हैं, एवं विश्व में स्थायी शान्ति के प्रतीकों में स्वनाम धन्य हैं।

चाउ-एन-लाई का जन्म सन् १८९८ ईस्वी में, चीन में ही हुआ, और वहीं की धरती और पानी में उनका जीवन विकसित हुआ। वह प्रधान मंत्री, राजनीतिज्ञ, क्रांतिकारी, सैनिक एवं सैनिक-नियंत्रक, सब ही कुछ तो हैं। चीन के राष्ट्रपति माओत्से-तुंग के वह सदा दाहिने हाथ रहे हैं। प्रारम्भिक काल में उन्होंने भी उन के साथ राष्ट्रवादियों की कठोर यंत्रणाओं को सहन किया, और आज भी उन्हीं के साथ चीन एवं विश्व का उपकार करने में अहर्निश संलग्न रहते हैं।

अक्तूबर के महान् समाजवादी आन्दोलन से वह अतीव प्रभावित हुए थे—उस समय उनकी आयु केवल बीस वर्ष मात्र ही थी, और उसी समय वह उस असम समाज की विषमताओं को निकट से देखकर, विद्याध्ययन कर, जीवन में पदार्पण करने की बातें विचार रहे थे। उस महान् नीति की ओर जिसमें इन विषमताओं को दूर करने की सहली योजनाएँ थीं एवं दृढ़ संकल्प थे, झुक जाना किसी भी नये खून के लिये, कुछ अस्वाभाविक नहीं था।

इस प्रभाव के कारण उन्होंने ४ मई १९१९ में प्रसिद्ध आन्दोलन में साम्राज्यवाद एवं सामन्तशाही की दीवारों को ढहा देने के लिये, बड़ी तन्मयता से भाग लिया। अनेक स्थानों पर क्रान्तिकारी भाषण दिये, और चीन की अर्द्ध-निद्रित जनता को जागृत करने के लिये, उन क्रूर अत्याचारी राष्ट्रवादियों के विरुद्ध सशस्त्र युद्ध के लिये प्रेरित किया—उनमें एक नया जोश फूंका, जिसके कारण उन्हें तत्कालीन सरकार ने बन्दी बना कारावास भेज दिया।

कारावास से मुक्त होने पर वह १९२० से १९२४ तक फ्रांस एवं जर्मनी का भ्रमण कर वे मार्क्सवाद का प्रचार करते रहे, और साथ ही उनका अध्ययन भी चलता रहा। उसी समय उन्होंने 'कम्युनिस्ट पार्टी ऑव चीन' की योरुप शाखा का संगठन किया, और उसे आन्दोलन में भाग लेने योग्य बना दिया।

उन सब कामों की इतिश्री कर चाउ-एन-लाई १९२४ ईस्वी में चीन लौट आये। उस समय वहाँ एक आन्दोलन की तैयारियाँ चल रही थीं, इस आन्दोलन में क्वामिंतँग एवं साम्यवादियों ने कंधे से कंधा मिला कर कार्य किया था। वह उस आन्दोलन की सेना—व्हाम्पो मिलिट्री एकाडमी—के, जिसके संस्थापक सन यात सेन थे, डाइरेक्टर के पद पर काम करने लगे। १९२५ से १९२७ ईस्वी के आन्दोलन युद्ध में, क्वांतुंग सरकार की सेनाओं का काम कर, उन्होंने आशातीत सफलता प्राप्त की।

१९२६ ईस्वी की शरद ऋतु में उन्होंने शंघाई की ओर प्रस्थान किया, एवं सेन्ट्रल मिलिट्री के मंत्री का उत्तरदायित्वपूर्ण पद ग्रहण किया। १९२७ में सैनिक उत्थान के अवसर पर, वह वहीं उपस्थित थे।

मई १९२७ में चीन जनवादी सभा का पंचम अधिवेशन हांको नगर में आयोजित हुआ। उन्हें उस अधिवेशन में केन्द्रीय सभा का सदस्य निर्वाचित किया गया। उससे ही उनका सितारा शनैः-शनैः प्रकाशवान होता गया।

जुलाई १९२७ में जब क्वामिंगतँग, वूचांग और हांको में राष्ट्रवादी सरकार के प्रधान च्यांग-काई-शेक के साथ मिल कर, आन्दोलन को धोखा दे बैठे, तो

उन्होंने चूतेह, होलुंग, येहतिन आदि के साथ मिलकर, १ अगस्त को अपनी नई सेना का निर्माण नानचांग एवं क्यांगसी में आरम्भ कर दिया।

१९२७ के पतझड़ के उपरान्त, चाउ-एन-लाई शंघाई नगर में छिपे रूप से कार्य करके लगे। उसी वर्ष नवम्बर मास में वह जनवादी सभा के नियंत्रक विभाग में कार्य करने लगे।

जून-जुलाई १९२८ में, मास्को में आयोजित सम्मेलन में उन्होंने भाग लिया। वहाँ पुनः उन्हें केन्द्रीय सभा का सदस्य चुन लिया गया, एवं आम सभा में उन्होंने राजनैतिक विभाग के सदस्य एवं मंत्री-पद को संभाले हुए भाग लिया। चीन लौटने पर उन्होंने पुनः शंघाई में केन्द्रीय विभाग का कार्य गुप्त रूप से सर-अन्जाम देना शुरू कर दिया। इस समय वह नियंत्रक विभाग के अध्यक्ष एवं केन्द्रीय सैनिक संस्था के मन्त्री के रूप में भी कार्य कर रहे थे।

१९३१ ई० की शरद् ऋतु में उन्हें केन्द्रीय क्रान्तिकारिणी सभा, क्यांगसी, में भाग लेने जाना पड़ा, एवं च्यांग काई-शेक के विरुद्ध १९३०-१९३३ में हुए युद्ध में रक्षात्मक रूप में भाग लेना पड़ा, वहाँ भी उनकी सामरिक विद्या का अच्छा परिचय मिला।

श्री माओत्से-तुंग ने जनवरी १९३४ में चीन का दौरा किया। उस समय उन्होंने श्री तुंग के साथ दौरा कर कृषक लाल सेना एवं अन्य कार्यकर्ताओं का नेतृत्व करने में उनका सहयोग दिया। वह भ्रमण लगभग ८५०० मील लम्बा था, सफलतापूर्वक समाप्त हो गया।

इस भ्रमण के पश्चात् केन्द्रीय सभा उत्तर शेन्सी की ओर चल दी। उस समय चीन पर जापान के आक्रमण की बहुत सम्भावनाएँ थीं, अतः जापानी साम्राज्यवाद के विरुद्ध केन्द्रीय सभा ने बड़ी तत्परता से जापान विरोधी राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चा बनाना प्रारम्भ कर दिया था। सन् १९३६ में क्वामितुंग टुकड़ियों के मध्य में चाउ-एन-लाई ने बहुत परिश्रम किया, क्योंकि वे शेन्सी में होने वाले साम्यवादी विरोधी युद्ध में संलग्न हो, राष्ट्र की शक्ति का ह्रास कर रहे थे। उन्हें शीघ्र ही उन पर विजय पा, लाल सेना को जापान विरोधी मोर्चे के लिये तैयार करना था अतः वह शीघ्र से शीघ्र उन्हें अपने साँचे में ढाल लेना चाह रहे थे।

उसी वर्ष स्यान में एक दुर्घटना हो गई। केन्द्रीय सभा ने उन्हें वहाँ शान्ति स्थापित करने के लिये भेज दिया। उसके पश्चात् जापान के विरुद्ध चीन के संयुक्त मोर्चे की नींव का आरोपण होगया, जो बाद में चल कर बहुत काम आया एवं अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध हुआ।

जापान से होने वाली प्रतिरक्षात्मक लड़ाई में, जो १९३७ से १९४५ तक हुई, वह केन्द्रीय सभा द्वारा क्वामिंतंग आधीन क्षेत्रों में संयुक्त मोर्चे का कार्य करते रहे। उस समय उन्होंने संस्था द्वारा निश्चित योजनाओं एवं माओत्से-तुंग द्वारा निर्धारित आदेशों का दृढ़ता से पालन किया। उस समय उनकी विरोधी संस्था केवल क्वामिंतंग थी, जो साम्यवादियों का डट कर विरोध कर रही थी, किन्तु उन्होंने उसकी किंचित् भी चिन्ता नहीं की और अपनी धुन में मस्त कार्य करते रहे। उस समय उन्होंने केवल यही काम किया हो, यह बात नहीं है। उन्होंने विभिन्न प्रजातांत्रिक संस्थाओं को अपने साथ सम्मिलित किया और विरोधी मोर्चे को दृढ़ बनाते रहे। इधर-उधर बिखरी राष्ट्रीय शक्ति के संगठन का उनका काम अत्यन्त सराहनीय है, जिसे अब भी समस्त चीन मानता है।

वह सप्तम राष्ट्रीय सम्मेलन में भी, जिसे साम्यवादी संस्था ने ही संगठित किया था, १९४५ में गये ; वहाँ पुनः उन्हें केन्द्रीय सभा का सदस्य, राजनैतिक विभाग का सदस्य एवं मंत्री निर्वाचित कर लिया गया।

१९४९ में जापान विरोधी मोर्चे की विजयोपरान्त संस्था की आज्ञा प्राप्त कर वे समस्त चीन को शान्ति एवं प्रजातन्त्र का सन्देश सुनाने निकल पड़े। संस्था की आज्ञापालन करते हुए, अवसर से पूर्व ही वह च्यांग-काई-शेक एवं अमरीका की साम्राज्यवादी नीति को भाँप गये, और उन्होंने समस्त देश को उससे सचेत कर दिया। उस समय संयुक्त राज्य अमरीका की सहायता से च्यांग-काई शेक, उस राष्ट्रीय एवं प्रजातंत्रीय शक्ति के विरुद्ध शक्ति संजो रहा था।

मार्च १९४७ में जब च्यांग-काई-शेक की सेनाओं ने शेन्सी-कान्सु-निंगशा सीमा पर सशस्त्र आक्रमण किया, तब श्री चाउ-एन-लाई शेन्सी प्रान्त में ही थे, और माओत्से-तुंग की आज्ञानुसार समस्त राष्ट्र को संगठित कर रहे थे।

चीन की लाल जनवादी सेनाएँ राष्ट्रवादी सेनाओं पर विजयी हुईं। क्योंकि गृह युद्ध समाप्त हो गया, चीन प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों को मानने के लिये स्वच्छन्द हो गया। और मई १९४८ में जनवादी राजनैतिक मन्त्रणा परिषद् का आयोजन किया गया। उसमें चीन के भविष्य के लिये योजनाएँ बनाई गईं।

१९४९ में हुए उसके प्रथम अधिवेशन में चाउ-एन-लाई को उप-प्रधान निर्वाचित कर लिया गया। तब ही से वह चीन के प्रधान मंत्री पद पर सुचारु रूप से कार्य कर रहे हैं।

जिनेवा सम्मेलन में भी आप गये और सीटो का इसीलिये विरोध किया कि वह साम्राज्यवादियों का एक जाल था। उनके सतत् परिश्रमों के फलस्वरूप ही चीन 'पंचशील' में सम्मिलित हुआ। पंचशील की पाँच धाराओं से आशा ही नहीं विश्वास है कि युद्ध समाप्त हो जायेंगे, और चीन को भी उस पर दृढ़ निश्चय है।

———



गुलाब-पुत्र

हैरी हीट क्राफ्ट

ैसा इस शब्द से ही आभासित होता है, अच्छे हृदय वाला होने

ी का आकर्षण बना हुआ है। ऐसा कौनसा प्राणी है, जो
र प्रतीक को देखकर आनन्दित नहीं हो उठता है? विश्व-
श्री जॉर्ज बर्नार्ड शॉ से एक भेंट में इसी प्रकार का प्रश्न पूछा
करने वाले सम्वाददाता ने पूछा था : "मैं समझता था कि
बहुत पसन्द करते होंगे, किन्तु यहाँ आपके भेंट कक्ष में एक
हीं देख, मुझे अपना विचार परिवर्तित करना पड़ गया।"

र में कहा, "आप बालकों को प्यार करते हैं?"
ान्ति एवं आश्चर्य की मुद्रा में उत्तर मिला।

आप उनके सिर काट कर अपने समक्ष रखते हैं?" शॉ ने पुनः
वाक्य को इस प्रकार आगे बढ़ाया, "बस, इसीलिये आप भी
देख पाये हैं।"

जॉर्ज बर्नार्ड शॉ तो रहे दार्शनिक, आपको भी प्रकृति की यह सर्वनिकट, सर्वोपम भेंट अवश्य भली एवं मनोहारी लगती होगी। जंगल से गुजरते समय, जब जंगली फूल लाल, नीले एवं पीले रंगों में, अपनी मादक छवि बिखराते हुए, सृष्टि का मनोहर श्रृङ्गार कर रहे होते हैं, तो किसे उन्हें चूम लेने की इच्छा अथवा एक दृष्टि भर देख लेने की चाह नहीं होती ?

पुष्पों का वर्णन इतिहास-पुराणों में भी मिलता है : "राम ने सीता का पता फूलों से भी पूछा ; राधा ने साँवरे कृष्ण को अनेक बार वनपुष्प भेंट किये। कालीदास ने जब सर्वप्रथम विक्रमादित्य के दर्शन किये, तो एक सुमन-गुच्छ उनके साथ था। तुजके-बाबरी में भी इसी प्रकार लिखा मिलता है, "शहंशाह ने हिन्दुस्तान में बहुत सी फुलवाड़ियाँ लगवाईं।" जब किसी राजा को मित्रता का सन्देश भेजना होता था, तो वह श्वेत पुष्प को शान्ति एवं मित्रता का प्रतीक बनाकर भेज देता था, और प्रायः इस प्रकार दो शत्रुओं की कटुता मौन हो जाया करती थी। अभी लगभग सौ वर्ष पूर्व तो लाल गुलाब ने कहर ही ढा दिया था। गोरी कम्पनी सरकार के विरुद्ध लाल गुलाब ने भारतीय सैनिकों को बड़े मनोयोग से सैनिक क्रान्ति का उपदेश दिया, आजादी का पैगाम सुनाया, और लगभग अंग्रेजों के बिस्तर बंधवा ही दिये थे।

पुष्पों में गुलाब की छवि निराली है। उसका नाम ही जो गुले-आब ठहरा, सम्भवतः इसी कारण से हिन्दी में उसका नाम पाटल मान लिया गया। गुलाब के इतिहासकार रशीदुद्दीन के अनुसार बाबर से पूर्व गुजरात में ही गुलाब की सत्तर से अधिक नस्लें थीं—कोई छोटा, कोई बड़ा, कोई सफ़ेद, तो कोई लाल—किन्तु आज जब हम अन्य मार्गों एवं विज्ञान में अपनी बहुमुखी प्रतिभा दिखा रहे हैं, तो इसी दिशा में क्यों पिछड़े रहते। स्वयं हमारे देश के राष्ट्रपति उद्यान में गुलाब की सौ से अधिक नस्लें हैं।

ऐसा ही एक बगीचा इंग्लैंड के नाटिंघम प्रान्त के एडिंग्टन नगर में स्थित है। यह उपवन केवल कुछ ही लोगों का आकर्षण हो, यह बात नहीं है, वह तो सारे देश अथवा समस्त योरुप का ही नहीं वरन् सम्पूर्ण

विश्व का एक महान् आकर्षण है। ऐसे अभूतपूर्व उपवन में, जिस गुलाब की ५०७ नस्लें अपना मोहिनी मंत्र फेंक रही हों, भावुक हृदय खिंचा क्यों नहीं चला जायेगा? फिर उस उपवन की दूसरी विशेषता यह है कि प्रतिवर्ष जनता के सम्मुख एक नई नस्ल आती है, जनता उसका परिचय प्राप्त करती है। आखिर यह किसके श्रम का फल है? किस मानव पर ईश्वर की इतनी कृपा हो रही है? वह है संसार का सर्वश्रेष्ठ एवं सबसे अधिक समृद्धशाली—हैरी ह्वीट क्राफ्ट। इस माली को इंग्लैंड ही नहीं, समस्त योरुप की पुष्प-प्रदर्शनियों में अनेक बार प्रथम पुरस्कार मिल चुका है—उसके परिश्रम का यत्किंचित् मूल्य दे, उसे भविष्य की उन्नति के लिये प्रेरित किया गया है।

सन् १९१९ में जब संसार का आकाश युद्ध के प्रलयंकारी बादलों से विमल हो गया था, हैरी ह्वीट क्राफ्ट ने अपने छोटे भाई अल्फ्रेड के साथ बीस वर्ष की आयु में अपना पैतृक पेशा, बाग़वानी, आरम्भ किया। बड़े घोर परिश्रम के पश्चात् दोनों भ्राताओं की पितृवत् देख-रेख में, १९३९ में उस उद्यान में पन्द्रह लाख पौधे लहलहाते हुए अपनी छटा बिखराने लगे। किन्तु, दुर्भाग्यवश, उसी वर्ष द्वितीय विश्वयुद्ध की नींव पड़ गई, और उस आकर्षक उद्यान में भी अन्न की उत्पत्ति के लिये हल चला दिया गया। उस बात का उसे लेश मात्र भी दुःख नहीं था—क्योंकि वह युद्ध राष्ट्र के बचाव के लिये लड़ा जा रहा था, और उसके लिये भूदान ही क्या, अपना जीवन तक दान किया जा सकता था।

हैरी ह्वीट क्राफ्ट की तबीयत बड़ी रंगीली और स्वच्छन्द है, विचार तो स्वतन्त्र हैं ही। एक बार जब वह अपने 'ट्रेडमार्क' के लिये न्यायालय में उपस्थित हुआ, तो उस समय उसका वेष अत्यन्त विचित्र था—काले-सफेद चेक के सूट पर पीली टाई, और काज में सफ़ेद गुलाब के फूल। कई लोगों के, जिनमें दो पत्रकार भी थे, पूछने पर वह मुस्कराया और समाज के दासों पर एक व्यंग्य कसता हुआ बोला, "मैं वही कपड़े पहना करता हूँ, जो मुझे आरामदायक हों, अथवा मेरी इच्छानुकूल हों। गुलाबों के समान ही, मैं कपड़े भी रंग-बिरंगे पसन्द करता हूँ। जो लोग अपनी इच्छानुकूल वस्त्र नहीं पहन सकते, मैं तो उन्हें कायर समझता हूँ।"

हरी ह्वीट क्रास्ट ने जब गुलाबों की नई नस्लों को जन्म देना प्रारम्भ किया था, तो उस समय वह बहुत कम पढ़ा-लिखा था, किन्तु बाद में आवश्यकता के लिये उसने इस ज्ञान को और बढ़ाया। वैसे वह कोई वैज्ञानिक नहीं है, और न ही संसार ने अभी उसे वैज्ञानिक के रूप में मान्यता दी है, किन्तु उसकी प्रयोगशाला वही उद्यान है, जो उसके जन्म स्थान में बना हुआ है।

झोंपड़ी में रहने वाला वह माली गुलाब की कृपा से ही आज बहुत बड़े भवन एवं उद्यान का स्वयमेव स्वामी है। सन् १९२९ से पूर्व ही वह लाखों रुपये इस व्यवसाय में कमा चुका था। देश-विदेश में उसके यहाँ की विभिन्न प्रकार की गुलाबों की कलमों को डाकखाना पहुँचाता है, और साथ ही उसके प्रतिफल में लाखों रुपया भी उसके पास पहुँचाता है।

युद्ध समाप्त होने के उपरान्त, एक बार पुनः वह बड़ी बहार दीवारी पुष्पित-पल्लवित हो उठी। उपवन की सुगन्ध फिर सारे विश्व में उड़ने लगी और पुनः उस उपवन में लाखों की संख्या में लहलहाते हुए गुलाब दिखाई देने लगे।

उसका फूलों का काम व्यवसाय मात्र, धन कमाने एवं जीविका चलाने का साधन, ही नहीं रहा, वरन् उसकी साधना भी बन गया। उसके जीवन की वही साध ने उसमें जड़ें पकड़ लीं। अतः उसने आज तक अनेक नई-नई नस्लें पैदा कर दी हैं, जिनकी संख्या अब तक २०७ पहुँच चुकी है। 'शान्ति का गुलाब' एवं 'आजादी का गुलाब' तो उनमें अपनी विशेषता एवं महानता रखता है।

'शान्ति के गुलाब' के विषय में तो स्वयं हैरी महोदय का यह मत है, "यह इस शताब्दि की एक ही नस्ल है। इसका आकार जितना बड़ा है, उतना ही तेजस्वी इसका स्वरूप भी है, साथ ही इसकी उपज भी बहुत होती है। सुगन्ध एवं सौंदर्य इतने उत्कृष्ट रूप से कभी भी नहीं फूला। यदि इसे मैं युग की साकार काव्य-प्रेरणा कहूं, तो अत्युक्ति नहीं होगी।"

प्राचीन काल में यूनान के सभा-भवनों में गुलाब रखा रहता था, और उसे शांति के प्रतीक स्वरूप माना जाता था, इसीलिये वहाँ की सभाओं को 'सब-रोज़'

नाम दा ने ल्या गया था अर्थात् जो गुलाब के पास रहने वाले हैं। सम्भवतः श्री हैरी महोदय ने भी इसी भावना से प्रेरित हो, बरमूडा सम्मेलन में जाते समय अपने देश के प्रतिनिधि को 'शांति का गुलाब' भेंट किया था, और आशा प्रकट की थी कि वह शांति संस्थापन के लिये ही प्रयास करेंगे।

हैरी ह्वीट क्राफ्ट प्रत्येक नस्ल को लोगों के सम्मुख उसी समय रखता है, जब वह पूर्णतया उससे सन्तुष्ट हो जाता है। 'आज़ादी के गुलाब' को उसने कुछ वर्ष तक देखने और निश्चिन्त होने के पश्चात् संसार के सम्मुख प्रस्तुत किया था। गुलाब से उसे प्रेम रहा है, वह गुलाब को बहुत चाहता है, किन्तु गुलाब ही क्या वह प्रत्येक फूल की नवीनतम नस्ल बड़े स्नेह से संजोता है। इसीलिये एक बार कहा था, "मेरी समझ में नहीं आता कि लोग पुरानी नस्लों को किस प्रकार पसन्द करते हैं, और उनमें सौन्दर्य का दर्शन कैसे करते हैं।"

प्रत्येक नस्ल को पैदा करने के लिये उसे बहुत श्रम करना पड़ता है, और प्रत्येक को बहुत सतर्कता से खाद, सिंचाई, हवा एवं पानी इत्यादि सबे ढंग से देना पड़ता है। जब कभी कोई उसकी इस सतर्कता पर आश्चर्य प्रकट करता है, तो वह कहा करता है: "एक नये एवं सुन्दर फूल की नस्ल पैदा करने के लिये कम से कम पचास हजार अड़चनें पड़ती हैं।"

महारानी एलिज़ाबेथ द्वितीय के राज्याभिषेक के शुभावसर पर उसका बनाया हुआ एक लाख फूलों का गुलदस्ता एक स्मरणीय एवं ऐतिहासिक 'कला की भेंट' रहा था। प्रत्येक उपस्थित नर-नारी उसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सका। उसमें सात सौ रंग-बिरंगे गुलाबों को इस प्रकार सजाया गया था, कि आँखें एकदम चमक कर रह जाती थीं। सम्भवतः पुष्प प्रदर्शनियों में उसकी विजय का यही कारण है।

आज बीस वर्ष से शायद कोई ऐसी योरोपीय पुष्प प्रदर्शनी नहीं हुई, जिसमें हैरी बंधुओं के पुष्प की सराहना नहीं हुई हो। उसने कुल मिला कर तेरह प्रथम पुरस्कार जीते हैं और गुलाब की नई नस्लों को पैदा करने के लिये कई बार विश्व भ्रमण कर चुका है।

उसकी साधना, उसके विचार से, मानव के प्रति प्रेम में तो उसका उद्धार कर चुकी है, किन्तु अब भगवान के चरणों में भी वह एक भेंट करना चाहता है जो 'शाश्वत गुलाब' के नाम से प्रसिद्ध होगी। उसकी विशेषता यही होगी कि वह कई सप्ताहों तक एकसा ही रहेगा।

ब्रिटेन के बसन्तोत्सव का प्रमुख आकर्षण सदा ही हैरी का उद्यान रहा है। वहाँ ब्रिटेन का प्रत्येक बड़ा नेता एवं कलाकार घूम चुका है, और उसकी प्रशंसा कर चुका है।



प्रकृति का चित्रका

वाल्ट डिस्ने

हित्य ही नहीं अपितु सभी कलाएँ आज केवल मनोविनोद के लिये
कर जीवन की आलोचना बन गई हैं। रचना करने से पूर्व, समाज
हित देखना आज अनिवार्य हो गया है। रचना के विशद् क्षेत्र में
डिस्ने का कार्य कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहा है। उन्होंने चित्रपट
क्रान्ति ला दी है। कारटून चित्रों के निर्माण में उन्होंने केवल बाल-
ही नहीं दिखाया वरन् सभी को आकर्षित कर सोचने पर विवश
। इंग्लैंड की साम्राज्ञी एलिजाबेथ द्वितीय एक बार वाल्ट डिस्ने के
उस' पर चील को झपटते देख चिल्ला उठी थीं "इसे बचाओ!"
त होता है, उनके पात्रों से मनुष्य मात्र को प्यार है। वाल्ट डिस्ने

के पात्र चित्रपट पर उछलते-कूदते हमें हँसाते तो हैं ही, साथ ही हमारे जीवन पर कठोर व्यंग्य भी कसते हैं।

बीसवीं शताब्दि में ही सजीव व्यंग्य चित्रपट जगत में लोक कला के रूप में आये एवं शीघ्र ही सारे संसार का प्रेम जीत गये।

इस कला के अध्ययन पर ज्ञात होता है कि सजीवता लाने की भावना एवं इच्छा पाषाण युग से मानव हृदय में पल रही है। सर्वप्रथम गतिमय व्यंग्य-चित्र १८३१ में फ्रांस में श्री जोसेफ प्लेटो ने प्रदर्शित किया। तभी फ्रांसीसी कलाकारों ने उन्हें अपने चित्रों में स्थान देना प्रारम्भ कर दिया। उन में श्री ईमाइल कोल सबसे अधिक सफल रहे, और उन्होंने ही इस संसार को वास्तविक गतिमय व्यंग्य चित्र दिया। इसी प्रकार के चित्र अमेरिका में १९०६ में निर्मित हुए, किन्तु उन्हें १९२८ तक वहाँ कोई सफलता नहीं मिल सकी। उसी वर्ष श्री वाल्ट डिस्ने का 'स्टीम बोट विली' शीर्षक चित्र बहुत लोकप्रिय हुआ। उसी चित्र में सर्वप्रथम अमेरिकी दर्शकों का परिचय श्रीमान् 'मिकी माउस' से हो सका, और अब तो कोई भी ऐसा पाठक एवं चित्र दर्शक नहीं है जो 'मिकी माउस' से परिचित नहीं हो।

यद्यपि इस क्षेत्र में अनेक कलाकारों ने प्रयास किये, किन्तु वाल्ट डिस्ने की साधना एवं अध्यवसाय ने उन्हें इस पथ का नेता स्वीकार कर के ही छोड़ा।

व्यंग्य चित्रकार के रूप में वैसे तो उनका जीवन १९२० ईस्वी में ही प्रारम्भ हो चुका था, किन्तु १९२८ तक उन्हें कोई विशेष सफलता नहीं मिल सकी; उसी वर्ष मिकी माउस का सौभाग्यशाली जन्म हुआ तथा वह शीघ्र ही चित्र जगत में 'माइकल माउस', 'मिकी कूर्नी' एवं 'मिस्टर रैट-सामिदो' नामों से प्रसिद्ध हो गया। देश-विदेश के दर्शकों एवं आलोचकों का वह प्रिय पात्र हो गया तथा उसके जन्मदाता पिता श्री वाल्ट डिस्ने भी साथ-साथ ही प्रसिद्ध होते चले गये। १९३२ ईस्वी में एकाडमी ऑफ आर्ट्स एवं साइन्सेज़ ने उन्हें उसके निर्माण पर एक विशेष पुरस्कार से विभूषित कर, दर्शकों की ओर से धन्यवाद एवं कृतज्ञताज्ञापन किया। १९३५ में फ्रैंच

लोगों ने भी उन्हें बड़ा सम्मान दिया और नवीन कला का जन्मदाता स्वीकार कर लिया।

वाल्ट डिस्ने का जन्म १९०१ में शिकागो के मध्य-पश्चिमीय नगर में हुआ था। उनके शैशव का कुछ समय अपने खेतों की हरियाली में व्यतीत हुआ, यहीं वातावरण में आने वाले जीव-जन्तुओं के चित्र उन्होंने छोटी सी आयु में ही बनाये। जब बालक डिस्ने नौ वर्ष का हुआ, तब उसका परिवार कैंसास नगर चला गया। वहाँ उसे एक विद्यालय में प्रविष्ट कराया गया। उनकी चित्रकला सम्बंधी पढ़ाई उत्तर माध्यमिक परीक्षा के उपरान्त आरम्भ हुई, और कुछ ही अर्से में वह अच्छे-अच्छे व्यंग्य चित्र बनाने लगे।

डिस्ने ने सर्वप्रथम नौकरी एक विज्ञापन संस्था में की थी। १९२० में 'फिल्म एडवर्टाइजिंग' पत्र ने उन्हें अपने यहाँ बुला लिया और उन्हें व्यंग्य चित्रकार के रूप में नौकर रख लिया। उस संस्था में काम करते हुए उन्होंने एक चित्र के विज्ञापन के लिये कुछ काँच चित्र (स्लाइड्स) भी बनाये। इस कार्य से उन्होंने फिल्मों के व्यंग्य चित्र (कार्टून) बनाने की प्रेरणा प्राप्त की एवं अपने पिताजी के अस्तबल को प्रयोगशाला का रूप दे दिया। अपने इस कार्य में कुछ नवोदित कलाकारों को उन्होंने सहायक के रूप में मिला लिया और उस प्रयोगशाला में दिन भर पेट के लिए संघर्ष करने के पश्चात् रात को कार्य करने लगे।

इस प्रयोगशाला में सर्व प्रथम व्यंग्य चित्र 'लाफ ओग्राम्स' बना, जो कैन्सस वासियों पर करारा व्यंग्य था। इसे एक स्थानीय छवि गृह में प्रदर्शित किया गया। इस पथ पर और आगे अग्रसर होने के लिये, उन्होंने परियों की कहानियों पर आधारित कुछ व्यंग्य चित्रपटों के निर्माण का निश्चय किया, तथा उनकी एक सूची तैयार की। इस प्रकार सर्व प्रथम चित्र छः मास में सम्पूर्ण हुआ, जिसका शीर्षक था 'रैड राइडिंग हुड'। उक्त चित्र को न्यूयॉर्क के एक प्रदर्शक को बेच दिया गया। उसने अन्य कुछ चित्रों को भी खरीदने का वचन दिया, किन्तु दुर्भाग्य से पैसा मिलने के पूर्व ही वह दिवालिया हो गया। इस शोक से कातर होकर डिस्ने ने चित्र बनाने के हेतु हालीवुड जाने का निश्चय किया, क्योंकि वहाँ

पहुँच कर चलचित्र जगत के कर्णधारों से सुविधापूर्वक निकट सम्बन्ध हो सकते थे।

श्री डिस्ने हालीवुड के रंगीन, चमकदार, किन्तु अन्दर से काले, क्षेत्र में सन् १९२३ के अगस्त में आ धमके। अब उनकी आयु केवल २२ वर्ष की थी और उनके पास एक पुराना सूट, एक स्वेटर, चित्रकला का थोड़ा सा सामान, चालीस डॉलर एवं नवीनतम निर्मित चित्रों की एक कापी थी। वहां तीन मास के लगभग चेष्टा करने के उपरान्त उन्हें ज्ञात हुआ, कि केवल न्यूयॉर्क के प्रदर्शक ही उनकी सहायता कर सकते हैं, जो वहाँ से तीन हजार मील दूर बैठे हुए थे। साथ ही उन्हें वहां कुछ चित्र बनाने की आज्ञा भी प्राप्त हो चुकी थी। अतः श्री डिस्ने एवं रॉय ने शीघ्रता से वहीं एक मकान किराये पर ले लिया। उन्होंने पेटियों की मेज़ें बनाईं और कार्य करने में जुट गये, किन्तु उन्हें शीघ्र ही इस बात का आभास हो गया कि वे अकेले उस कार्य को नहीं कर सकते हैं। अतः उन्होंने कैन्सस से दो स्त्रियों को बुला लिया और उन्हें अपनी सहायिकाएँ बना लिया। बाद में उन्हीं में से एक श्री डिस्ने की पत्नी बनीं।

नई प्रयोगशाला में कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हुआ। दर्शकों ने प्रथम चित्र की बड़ी सराहना की एवं इस प्रकार प्रदर्शकों ने अन्य चित्रों के निर्माण की आज्ञा दे दी। इस पर भी वाल्ट डिस्ने को इतने से संतोष नहीं हो पाया। वह सोचने लगे, "काश अधिक धन होता, तो अधिक अच्छा कार्य हो पाता।" अतः वह प्रदर्शकों से मिलने गये, किन्तु वह इस बात पर राज़ी नहीं हुआ कि इससे अधिक अच्छे चित्रों का निर्माण किया जाय। इस पर डिस्ने ने स्वयं अपना चित्र बनाने का निश्चय किया। उस समय आवश्यकता पड़ी नवीन पात्र की, और समाधान शीघ्र ही निकल आया। उन्हें कैन्सस स्थित अपने घर के चूहे का ध्यान आगया और इस प्रकार 'मिकी माउस' महोदय की सृष्टि हुई।

'मिकी माउस' के जन्म के समय ही मूक चित्र बोलपटों से पिट रहे थे। 'स्टीम बोट विली' प्रथम व्यंग्य चित्र था जिसमें ध्वनि का अवलम्ब लिया गया था। यह चित्र अक्टूबर १९२८ ई० में प्रदर्शित किया गया था।

प्रथम दस वर्षों में 'मिकी माउस' लगभग सौ चित्रों का नायक रहा। शनैः शनैः डिस्ने की प्रयोगशाला में अन्य जीव भी 'मिकी' की सहायतार्थ आने लगे,

जिनके नाम प्लूटो, ग्नाना, डेडम आदि रख गये। ध्वनि की समस्या तो हल हो चुकी थी, अब डिस्ने ने रंगीन चित्र बनाने चाहे। परिणामतः १९३२ में टेकनी-कलर पद्धति पर सर्वप्रथम व्यंग्य चित्र 'फ्लावर्स एण्ड ट्रीज़' का निर्माण किया गया एवं इसी वर्ष उसका प्रदर्शन भी हुआ। सन् १९३३ के रंगीन चित्र 'थ्री लिटिल पिग्स' को एकेडमी एवार्ड से पुरस्कृत किया गया।

प्रत्येक सफलता से उत्साहित हो श्री डिस्ने निरंतर आगे बढ़ते रहे। तब वह लम्बे चित्रों की ओर आकर्षित हुए। सन् १९३४ में उसी प्रयोगशाला में प्रथम लम्बे व्यंग्य चित्र 'स्नोह्वाइट एण्ड द सेवन ड्वार्फ्स' की नींव डाली गई और निर्माण कार्य त्वरित गति से चल पड़ा। वह चित्र तीन वर्ष में पूरा हुआ। इस के लिये, कथा में प्राण डालने के हेतु ४,७७,००० चित्र बनाने पड़े। उस चित्र का दस भाषाओं में अनुवाद किया गया और संसार के प्रत्येक कोने के व्यक्तियों का उससे मनोरंजन हुआ। इस चित्र के निर्माण पर भी डिस्ने को 'एकेडमी एवार्ड' मिला और आगामी चार वर्षों तक उसे सर्वाधिक धन कमाने वाला चित्र माना जाता रहा।

सन् १९४० में दो अन्य चित्रों का निर्माण डिस्ने ने किया—'फर्डिनेंड बुल,' तथा 'पिनोचियो'। उसी वर्ष 'फैन्टासिया' का निर्माण कार्य शुरू हुआ। 'फैन्टासिया' में वह एक क़दम और आगे बढ़े एवं उनके जीव-जन्तु पात्र शास्त्रीय संगीत के सेनापतित्व में चलने लगे। संगीत के हेतु उन्होंने अमरीका के प्रसिद्ध संगीतज्ञ श्री लियोपोल्ड स्टोकोव्स्की की सहायता ली और प्रयोग करने आरम्भ कर दिये। श्री स्टोकोव्स्की ने फिलाडेल्फिया का संगीत प्रयोग किया। उससे डिस्ने की ख्याति में चार-चाँद और लग गये। एक संगीतालोचक ने उसे देखकर कहा था, "पट पर जो कभी प्रदर्शित नहीं हो सकी, ऐसी कल्पना।"

द्वितीय विश्व-युद्ध के समय डिस्ने प्रयोगशाला ने सैनिक-शिक्षण के चित्र ही बनाये। युद्ध समाप्त होते ही उन्होंने 'सिन्डरेला,' 'ट्रेजर आइलैन्ड' तथा 'रोबिन हुड' तीन चित्रों का निर्माण किया। अन्तिम दो चित्रों में जीवित मनुष्यों के अभिनय का समावेश भी किया गया था।

प्रतिवर्ष डिस्ने की प्रयोगशाला में लगभग १८ चित्रों का निर्माण हुआ करता है, जिसमें से चार का नायक 'मिकी माउस' होता है, एवं शेष अन्यों में 'डोनाल्ड डक,' 'सिल्ली 'सिम्फोनीज़' आदि। 'स्नोह्वाइट' में अन्तिम बार श्री डिस्ने की तूलिका ने स्वयं कार्य किया था, तब से अब तक उनके सहायक चित्रकार ही उनके निरीक्षण में चित्र बना रहे हैं।

आज 'डिस्ने फाइन एन्टरप्राइज़' का नाम 'वाल्ट डिस्ने प्रोडक्शन्स इनकॉर्पोरेटेड' है, जिसके संचालक (डाइरेक्टर) वह स्वयं हैं एवं श्री रॉय प्रधान एवं कोषाध्यक्ष हैं। अब डिस्ने की वह पेंटिंग्स की मेज़ों से युक्त प्रयोगशाला आधुनिकतम सुविधाओं से पूर्ण हो ५१ एकड़ भूभाग पर छाई हुई है। उसका आधुनिक श्वेत भवन बड़ी-बड़ी छायादार सड़कों से घिरा हुआ है एवं उसमें एक हजार व्यक्ति—ड्राफ्ट्स मैन (छायाकार), चित्रकार, संगीतज्ञ, कविकार, यांत्रिक एवं अधिकारी आदि—मिलकर कार्य करते हैं, तथा वाल्ट डिस्ने के व्यंग्य चित्र हम तक पहुँचाते हैं।

सजीव व्यंग्य चित्रों का निर्माण अत्यधिक परिश्रम एवं अध्यवसाय का कार्य है। साधारणतम चित्र के हेतु न्यूनतम १४,००० चित्रों की आवश्यकता होती है। लम्बे चित्रों में तो यह संख्या चार लाख से भी ऊपर पहुँच जाती है, क्योंकि 'मिकी माउस' को एक बार घूमता हुआ दिखाने के लिये कम-से-कम १६ चित्र और 'हैलो' कहलाने के लिये कम-से-कम आठ चित्रों की आवश्यकता पड़ती है।

एक चित्रपट निर्माण करने के लिये, पहले कच्चे चित्रों में कथा बनाई जाती है; जब वह कथा श्री डिस्ने द्वारा मान्य हो जाती है तो सब को अलग-अलग बाँटकर कार्य आरम्भ कर दिया जाता है।

श्री डिस्ने की सहृदयता एवं बन्धुत्व भावना के फलस्वरूप ही वे सब लोग एक परिवार के समान रहते हैं। उन्हें सब 'वाल्ट' ही कहते हैं। केवल न्यूयार्क के मेट्रोपोलिटन संग्रहालय में उन्हें 'चलचित्र जगत की महानतम विभूति' के विशेषण से सम्बोधित किया जाता है। आंग्ल व्यंग्य चित्रकार श्री डेविड लो ने उनके विषय में कहा है, "लियोनार्डो डी विन्सी के उपरान्त चलचित्र जगत के इतिहास में स्मरणीय केवल श्री डिस्ने हैं।"

वास्तव में इस मौलिकता को लिये हुए, जब वह इस क्षेत्र में आये थे तो लोगों ने उन्हें बहुत हतोत्साहित किया था, किन्तु वह अपनी बात पर अड़े रहे और इस विपद्ग्रस्त संसार को हँसाने के लिये यह व्यवधान बनाया।

बालकों से डिस्ने को सदैव स्नेह रहता है। वास्तव में, व्यंग्य चित्रों का निर्माण उन्होंने बाल-मनोरञ्जन के हेतु ही किया था, क्योंकि इसके पूर्व बालकों के लिये फिल्मों में कुछ भी नहीं होता था। अभी हाल में डिस्ने ने बच्चों के लिये एनाहीम, कैलिफोर्निया में एक करोड़ दस लाख डालर लगा कर एक उपवन विहार 'डिस्नेलैंड' बनवाया है। यह सम्भवतः डिस्ने की सब से बड़ी देन है।

प्रथम महान उपन्यासकार

सरवैन्टस्



स्पेन के मध्य में, ला मांचा नामक भू भाग, आकाश के नीचे, शून्य सा खुला पड़ा है। वैसे तो वह कुछ ग्रामों, गडरियों तथा उनके के अतिरिक्त रिक्त सा ज्ञात होता है, किन्तु यदि आप साहित्य अध्य यह स्थान आपको रिक्त नहीं लगेगा। आपको भी कुछ मों पात्र अप के साथ, सर्व प्रथम महान् उपन्यास के उस घटनास्थल में दिखाई दे

आज भी उस स्थान पर शताब्दियों पुरानी अनेक हवाई चक्कि हे जायेंगी, जो उस 'वीर' को राक्षस सी लगी थीं, और वह उस द करने के लिये, अपने घोड़े पर सवार हो एड़ लगाया करता था, 'नाइट' (वीर) की पदवी प्राप्त कर सके। 'हवाई चक्कियों पर मुहाविरे का प्रयोग आज भी अंग्रेजी में होता है, 'डॉन क्विक्ज़ोट' श उतना ही प्रचलित है। हवाई चक्कियों की घटना तो सैकड़ों में से प्रकार अन्य भी यथार्थ एवं काल्पनिक घटनाएँ हैं, जिनमें दार्शनिक वर्णन है और जो लेखक श्री मिग्वल द' सरवैन्टस् के निजी जी वास्तविक पुरस्कार है।

सरवन्टस बहुत हँसमुख व्यक्ति का जीव था, और उसकी रचनाओं में भी हास्य का अत्यधिक स्थान था। उसका जन्म १५४७ ई० में हुआ था। उसके जन्म के समय उसके पिता मैड्रिड नगर के निकट हैनेयर्स में रहते थे। वह परिवार किन्हीं कारणों वश शीघ्र ही वेलाडॉलिड, सेविले तथा मैड्रिड में क्रमशः बसता रहा। उसके पिता अत्यन्त निर्धन अत्तार थे, सम्भवतः इसी कारण से उनके पास बहुत-थोड़ा पैसा देने वाले रोगी आते थे। मिग्वेल को अपने पिता के विषय में केवल बहुत थोड़ा याद था, वह ऋण के कारण पकड़े गये और स्वयं ऐन्ड्रिया लुइसा नाम की दो बहिनें, तथा दो छोटे भाइयों को रोते छोड़ कर कारावास का दण्ड भुगतने चले गये। अतः मिग्वेल सरवेन्टस् के वे दिन बड़ी कठिनाइयों में व्यतीत हुए।

किसी प्रकार बालक मिग्वेल विद्यालय में पढ़ा। सम्भवतः वह सलामन्का विश्वविद्यालय में भी कुछ लोगों की, जो स्वयं भी वहाँ के विद्यार्थी थे, कृपा-स्वरूप अध्ययन कर सका। साहित्यकार अपने वातावरण एवं जीवन से लिखने की सामग्री प्राप्त करता है, अतः घूमने-फिरने सहसा ही उसने जो कुछ भी मर्मस्पर्शी, मर्मघातक एवं कठोर देखा वह बाद में कागज़ पर उतार दिया। मंच पर जाकर भी उसने यह देखने का प्रयास किया कि जीवन जब कला की ओर मुड़ जाता है तो कैसा हो जाता है। किन्तु वह अनुभव कुछ ठीक प्रकार अनुभूति तक नहीं आ सका, क्योंकि वह दर्शक था, अभिनेता नहीं। अतः मंच पर अभिनय करते हुए प्राणियों का उज्ज्वल पथ ही देख सका, उनकी वास्तविक प्रयासों की कठोरताएँ, विषमताएँ, वह जानता भी तो कैसे? इस पर भी वह इन नाटकों से यह तो जान ही गया कि अवास्तविकताओं को भी विश्वसनीय किस प्रकार बनाया जा सकता है। इस सबसे उसने बाईस स्वप्नों को संजोया, और वे सब के सब साहित्य में अमर हैं।

अध्ययन समाप्त कर वह इटली चला आया। इटली में स्पेन ने अपने दुर्ग स्थापित किये हुए थे। वहाँ आकर उसने अपने आप को सेना की सेवा में समर्पित कर दिया। अन्ततोगत्वा वह कर्मठ एवं अथक परिश्रमी पहनने योग्य कपड़े एवं नियमित भोजन प्राप्त करने ही लगा। वहाँ उसने जीवन की

बहुत सी दिशाओं के दर्शन किये प्राचीन सरायों में वह जब अपने वस्त्र के साथ जाकर रुका करता था, तो वहाँ की घटनाएँ उसके मस्तिष्क में कई दिनों तक गूंजती रहा करती थीं। इटली की रंगीन मदिरा उसे कभी-कभी बेहोश तक कर दिया करती थी, मोहक कन्याएँ उसकी आँखों के समक्ष कई-कई दिवस बाद तक घूमती रहा करती थीं। यह सब तुच्छ किन्तु महत्त्वपूर्ण बातें वह बहुत पास से देखा करता था, इसलिये उसके उपन्यासों में यह घटनाएँ बहुत सजीव सी बन पड़ी हैं।

समर तो जैसे उसका पलंग ही था। अनेक समरस्थलों में, उसने चमकते एवं डूबते नक्षत्रों को अपनी करवटों में ही देखा था। तुर्कों के विरुद्ध उसे सबसे पहली लड़ाई लड़नी पड़ी थी; उन तुर्कों के विरुद्ध, जो ईसाइयत को शस्त्रों की चमक से, युद्ध की आग से, क़ुरानपाठी बना देना चाहते थे। सन् १५७१ में तुर्किस्तान के बादशाह की आज्ञा प्राप्त कर एक बहुत शक्तिशाली सेना, भूमध्यसागर की तूफ़ानी लहरों के वक्ष पर पाँव जमाती, पश्चिम की ओर बढ़ती चली गई। तुर्किस्तान का सुलतान सलीम द्वितीय, सन्त पीटर के रोम में लहराते हुए ध्वज को उखाड़, वहाँ इस्लाम का ध्वज—रक्तरंजित ध्वज—लहराना चाहता था। स्पेन ने अपने राजा फ़िलिप द्वितीय के छोटे भाई डान जुआन की, जो आस्ट्रिया में पला था, अध्यक्षता में एक सशक्त एवं निपुण सेना को तुर्कों के सुलतान के 'जेहाद' के विरुद्ध भेजा जिसमें वह सेना पायस और वेनिस राज्यों की सहायता एवं रक्षा कर सके। उसी सेना में मिग्वेल द' सरवैन्टस् भी एक सैनिक था।

यूनान के तट पर बसे लेपान्टो बन्दरगाह पर मित्र देशों की उस सेना का सामना तुर्किस्तान के सैनिक बेड़े से हुआ, और वहाँ जलयुद्ध का वह बीभत्स रूप दिखाई पड़ा जो इससे पूर्व कभी भी नहीं हुआ था। आठ सहस्र ईसाई एवं पच्चीस सहस्र तुर्क मृत्यु के कवल बने। एक यान दूसरे यान का मुक़ाबिला करता, और हर ओर का सैनिक क्रुद्ध हो अपने शत्रु पर शस्त्राघात करता।

युद्ध आरम्भ होने के पूर्व सरवैंटस् मलेरिया ज्वर से ग्रस्त था, किन्तु युद्ध के जयकार सुन उससे नहीं रहा गया, अतः वह भी डेक पर जा पहुँचा और

वह भी उसी ओर जो तुर्की के बिलकुल सामने पड़ता था। अतः दो घाव सीने में और एक बाईं भुजा में लगा। उस दिन चन्द्रमा युद्ध देखते ही देखते डूब गया। अंधकार छागया, और स्पेन के हाथों स्वर्णिम तथा सर्वैंटस् के हेतु गौरवमय अवसर आ गया। तुर्कों पर बहुत बुरी बीती।

बड़ी-बड़ी आकांक्षाओं को हृदय में संजो सन् १५७५ में वह इटली से स्पेन की ओर पुनः चल पड़ा। उसे सम्राट् फ़िलिप के लिये डान जुआन से एक प्रशंसा-पत्र मिल चुका था, जिसकी कृपा से उसे कोई उच्च पदस्थ उत्तरदायित्व मिल जाने की आशा थी। किन्तु दुर्भाग्य से स्पेन जाने वाले उस जहाज़ को मूरलैंड के डाकुओं ने लूट लिया और उसके यात्रियों को गुलाम बना एल्जीयर्स ले गये। वहाँ यद्यपि उसे लूला होने के कारण व्यर्थ समझा गया तो भी वह डॉली मर्मी के पास रहा। जब उसके मालिक मर्मी ने प्रशंसा पत्र पढ़ा, तो उसे महत्वपूर्ण व्यक्ति समझ, स्पेन के सम्राट् को पत्र लिखा, जिसमें उसने धन लेकर सरवेन्टस् को छोड़ देने की बात लिखी थी।

मास बीतते गये और उस भावुक हृदय ने पुरुषों को काल के गाल में कारा की कठोरता को विवशतावश देखा; युवतियों को विक्रय करने के लिये बाज़ारों में ले जाते हुए देखा; साथ ही, जो लोग भागने का प्रयत्न करते उनको सताये जाने का मंजर भी देखा। सब कुछ अपनी आँखों से उसने देखा, किन्तु वह स्वयं अपने साथियों का नेता बना रहा, उसने उन्हें निराश एवं हताश नहीं होने दिया। कई बार स्वतंत्र होने के लिये उन्होंने विद्रोह किया, किन्तु हर बार असफलता मिली। जब उसे फाँसी दी जा रही थी, तो केवल उसके साहस ने ही उसे बचाया। यद्यपि वे मुस्लिम लुटेरे क्रूर थे, तदपि उनके हृदय में वीरता के प्रति सम्मान की भावना ने घर किया हुआ था; इसलिये जब उसे फाँसी के लिये तैयार किया गया, तो उसने भागने के सारे प्रयत्नों का उत्तरदायित्व स्वयं ही ले लिया, और उसी निर्भयता के कारण उसके प्राण भी बच गये। उधर स्पेन में उसके सम्बन्धी पाँच वर्ष बीत जाने पर, उसके लौट आने की आशा छोड़ चुके थे, किन्तु जब वह छूट आया, तो सब हर्ष के सागर में गोते लगाने लगे।

इस प्रकार आपदाओं सहित विपदाओं का सामना कर, १५८० ई० में सरवन्टस् पुनः स्पेन की धरती पर पैर रख सका, और तब ही वह यह जान सका कि संसार अपने उपकारी को कितना शीघ्र भूल सकता है। उन दिनों में उसने 'गैलेटिया' नाम की एक पुस्तक लिखी। वह बहुत अच्छी तो नहीं बन सकी, किन्तु फिर भी उसे इतना रुपया अवश्य मिल गया, कि वह अपने विवाह की तैयारियाँ कर सके। उसका विवाह कैटालिना डे सालाज़ार वि पालासियस से सम्पन्न हो गया, जो अपने साथ बहुत सा दहेज लाई। उस दहेज में बहुत से बाग एवं ज़मीनें आदि भी थीं।

विवाह के उपरान्त वे दोनों मैड्रिड चले आये। पत्नी युवती और पति अधेड़ था। यहाँ वह अभिनेताओं, लेखकों, प्रदर्शकों आदि की संगति में रहा, जिससे कैटालिना सुखी नहीं हो सकी। अतः उनका विवाह असफल सिद्ध हुआ। इस असफलता के प्रतिस्वरूप वह कला की ओर झुक पड़ा। पहले नाटक की सफलता से वह बहुत उत्साहित हुआ, और दूसरा लिखने लगा। तब ही एक अन्य मंच लेखक-नाटककार—लोप द' वेगा ने लिखना आरम्भ कर दिया जो चौबीस घंटे में ही एक नाटक लिख सकता था। अतः तब सर्वेन्टस् के नाटकों की कोई क़द्र नहीं रही।

इस पर उसने लेखिनी का आश्रय छोड़ कर नौकरी की प्रतीक्षा आरम्भ कर दी। उसे एक क्षुद्र सा कार्य मिल गया, और साथ ही स्पेन के आर्मेडा (जिस बेड़े ने फ़िलिप द्वितीय की ओर से इंग्लैंड पर असफल आक्रमण किया था) के लिये भी आवश्यक सामग्री एकत्र करने का कार्य मिल गया। किन्तु कुछ ही दिनों के अन्तर पर उसने अपने आपको बन्दीगृह के सींखचे गिनते हुए पाया। कठिनाई यह थी, कि वह गणित नहीं जानता था—वैसे तो सारा हिसाब सही था, कोष में धन भी सही था, किन्तु गणना गलत थी ; अतः कुछ दिनों पश्चात् उसे छोड़ तो अवश्य दिया गया, किन्तु जुर्माना फिर भी देना ही पड़ गया। जुर्माने के उस भारी धन को चुकाने के लिये उसने, जिससे ऋण माँगा, वह स्वयं भी दिवालिया हो गया, अतः जुर्माना नहीं देने के कारण उसे पुनः बन्दी बना लिया गया। तब उसने जेल के अनुभव प्राप्त किये, चोरों एवं हत्यारों से उनकी

कहानियाँ सुनी और बाहर सड़क पर चलते स्वच्छन्द लोगों को देखा। उन घटनाओं का उसकी रचनाओं पर समुचित प्रभाव पड़ा है, जो उस काल का अच्छा दिग्दर्शन कराती हैं।

जब वह बन्दीगृह के सीमित दायरे से निकल कर बाहर आया, तो अपनी महान् रचना को लिखने के लिये तैयार हो चुका था, तथा स्पेन भी उसे पढ़ने के लिये उत्सुक हो उठा था, क्योंकि अर्मेडा की हार से वह अपनी निर्बलता जान चुका था, मनोरंजन चाह रहा था, युद्ध से उसका मन भर चुका था। तब ही वह ५८ वर्षीय वृद्ध वीर खोज कर अपने उपन्यास के पात्र अपनी लेखिनी के नीचे लाने लगा था।

इसने जब 'डान क्विक्ज़ोट' लिखना आरम्भ किया था, तो वह केवल वीरों की त्रुटियों का वर्णन करना चाहता था, किन्तु यह उपन्यास हास्य-प्रधान बन गया और वह इसी क्षेत्र में प्रसिद्ध हो गया।

यह पुस्तक सन् १६०५ में सर्व प्रथम प्रकाशित हुई। जनता बड़ी बेचैनी से उसके अगले भागों की प्रतीक्षा करने लगी। आज भी उस प्रथम उपन्यास के दोनों भाग पश्चिमी साहित्य के अनमोल हीरे बने हुए हैं। उस उपन्यास से सरवैन्टस् की आर्थिक स्थिति सुधर गई और पारिवारिक समस्याएँ भी हल हो गईं, किन्तु वह बहुत कृश हो गया था, अतः २१ अप्रैल १६२१ ई० को कब्र के बिछौने पर असमान्य निद्रा की गोद में सो गया।
